उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

MAST -114 (N)
काव्यशास्त्र

काव्यशास्त्र

खण्ड–ग काव्यप्रकाश

पाठ्यक्रम

इकाई–9	दोष का सामान्य स्वरूप/लक्षण तथा पदगत दोष	5
इकाई–10	अर्थदोष	14
इकाई–11	वाक्यगतदोष	24
इकाई–12	रसदोष	30
इकाई–13	गुणों का सामान्य लक्षण आदि	34

MAST-114 (N)
काव्यशास्त्र

परामर्श–समिति

आचार्य सत्यकाम	मा0 कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
आचार्य सत्यपाल तिवारी	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 हरिदत्त शर्मा	पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो0 कौशलेन्द्र पाण्डेय	आचार्य एवं अध्यक्ष, साहित्य संस्कृत विद्या, धर्म विज्ञान, सकांय, बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो0 उमेश प्रताप सिंह	पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो0 विनोद कुमार गुप्त	आचार्य, मानविकी विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ0 स्मिता अग्रवाल	सहा आचार्य, मानविकी विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 विनोद कुमार गुप्त
आचार्य, संस्कृत, मानविकी विद्याशाखा
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

परिमापक / समन्वयक

डॉ0 स्मिता अग्रवाल
सहायक आचार्य, संस्कृत, मानविकी विद्याशाखा
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

डॉ0 स्मिता अग्रवाल
सहायक आचार्य, संस्कृत, मानविकी विद्याशाखा
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

मुद्रित– अक्टूबर, 2024
@उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – (2024)
ISBN- 978-93-83328-32-1

सर्वाधिक सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से श्री विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024.

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा – 281003.

MAST-114 (N)
काव्यशास्त्र
(काव्यप्रकाश)

पाठ्यक्रम एवं खण्ड परिचय

इस प्रश्नपत्र के पाठ्यक्रम में पूर्व में आचार्य मम्मटकृत काव्यप्रकाश का प्रथम से चतुर्थ उल्लास तक का अध्ययन ही प्रस्तावित था। वर्तमान में, इस प्रश्नपत्र में काव्यप्रकाश के सप्तम तथा अष्टम उल्लास में निहित कुछ महत्त्वपूर्ण गुण–दोषों को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है।

खण्ड 'ग' में मम्मटकृत काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में काव्य के दोषों तथा अष्टम उल्लास में काव्य के गुणों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस खण्ड में काव्यप्रकाश में वर्णित मुख्य दोषों तथा मुख्य गुणों का अध्ययन किया जाएगा। इस खण्ड में 05 इकाइयाँ है जिनमें से प्रथम चार इकाइयों में दोष के सम्बन्ध में तथा पाँचवीं ईकाई में गुण का अध्ययन प्रस्तावित है।

इकाई–9 दोषों का सामान्य स्वरूप/लक्षण तथा पदगत–दोष

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 'अदोषौ' पद की आलोचना

9.3 दोषों का सामान्य लक्षण

9.3.1 दोषों का विशेष लक्षण

9.4 पदगतदोष

9.4.1 श्रुतिकटु

9.4.2 च्युतसंस्कृति

9.4.3 अप्रयुक्त

9.4.4 अनुचितार्थ

9.4.5 ग्राम्य

9.4.6 क्लिष्ट

9.4.7 अविमृष्टविधेयांश

9.4.8 विरुद्धमतिकृत्

9.5 समासगत श्रुतिकटु

9.0 उद्देश्य

- काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में वर्णित काव्य–दोषों का सामान्य स्वरूप एवं लक्षण जान सकेंगे।
- 'अदोषौ' पद की समीक्षा कर सकेंगे।
- पदगतदोषों के लक्षण एवं उदाहरण जान पाएँगे।
- दोषों के नित्यत्व एवं अनित्यत्व को जान पाएँगे।

9.1 प्रस्तावना

काव्य–सौन्दर्य के मानक तत्त्वों तथा काव्य–सौन्दर्य को बढ़ाने वाले तत्त्वों जैसे–गुण एवं अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि की विवेचना वाले करने वाले शास्त्र को काव्यशास्त्र कहते हैं। इसी काव्यशास्त्रीय परम्परा

ग्रन्थों में मम्मटकृत काव्यशास्त्र को एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। आचार्य मम्मट ने समन्वयकारी दृष्टि रखते हुए अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में पूर्ववर्ती सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यों के सिद्धान्त को उचित स्थान प्रदान किया है।

आचार्य मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में भी सभी पूर्ववर्ती आचार्यों यथा दण्डी, वामन, भामह आदि के काव्यलक्षण का समन्वय करते हुए एक नवीन काव्य लक्षण **''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि''** दिया है। काव्यप्रकाश के दसों उल्लासों में मम्मट के इसी काव्यलक्षण की व्याख्या की गई है। प्रथम चार उल्लासों में हमने मङ्गलाचरण, अनुबन्ध चतुष्टय, काव्य के प्रयोजन, उपदेश की त्रिविध शैली, काव्य के हेतु, काव्य–लक्षण, विश्वनाथकृत आलोचना–खंडन, काव्य–भेद, शब्दार्थ–स्वरूप, संकेतग्रह, अभिधालक्षण, लक्षणालक्षण एवं भेद, अर्थ के भेद, ध्वनि निर्णय, रस निरूपण, रस के चारों मौलिक सिद्धान्त, रसों का क्रम आदि का अध्ययन किया है। इकाई–9 (सप्तम उल्लास) में दोष के लक्षणों एवं उदाहरणों का अध्ययन करेंगे।

9.2 'अदोषौ' पद की आलोचना

काव्यप्रकाश में मम्मट ने अपने काव्य–लक्षण में शब्द और अर्थ के जो तीन विशेषण 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' दिये हैं, आचार्य विश्वनाथ ने अनेक तर्कों के माध्यम उनका खण्डन किया है। विश्वनाथ का मानना है कि सर्वथा दोषरहित काव्य मिल पाना असंभव है। यदि सर्वथा दोषरहित काव्य यदि मिल भी जाए तो इसकी संख्या अत्यधिक न्यून ही होगी। आगे तर्क देते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि ध्वनि काव्य होने पर उत्तम काव्य की श्रेणी में रखे जाने पर भी 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरय' नामक श्लोक भी 'विधेयाविमर्श' दोष प्राप्त होने पर उत्तम काव्य की श्रेणी में तो क्या, सामान्य काव्य की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकेगा। पुनः आचार्य कहते हैं कि काव्य के जिस अंश में दोष हो उसे अकाव्य तथा जिस अंश में ध्वनि हो उसे उत्तम काव्य मानने पर खींचातानी हो जायेगी, काव्य–अकाव्य कुछ भी नहीं रह जाएगा। अतः 'अदोषौ' पद काव्य–लक्षण में उचित नहीं है।

आचार्य विश्वनाथ के खण्डन के समाधान के रूप में यह समझना चाहिए कि काव्य के जो विघातक दोष हैं अर्थात् जो प्रबल दोष है जिनसे रसानुभूति में बाधा उत्पन्न होती है, वही दोष कहा जाता है और काव्य में निहित शब्द और अर्थ को इन दोषों से रहित होना चाहिए। जैसे–'दुःश्रवत्व' दोष करुण, श्रृङ्गार आदि कोमल रसों की अनुभूति में बाधक होने पर दोष बन जाता है, परन्तु वीभत्स, वीर तथा भयानक आदि रसों में 'दुःश्रवत्व' रसानुभूति में बाधक नहीं अपितु साधक बन जाता है। मम्मट का आशय है कि साधारण स्थिति में दुर्बल दोष होने पर काव्यत्व में हानि नहीं होती है। विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में स्वीकार किया है कि साधारण दोष के विद्यमान होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है।

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः।।

अर्थात् कीड़ों से खाया हुआ प्रवाल (मूँगा) आदि रत्न (कीड़े के खाने पर भी) रत्न ही कहलाता है। इसी प्रकार जिस काव्य में रसादि की अनुभूति स्पष्ट रूप से होती रहती है, वहाँ दोष के होते हुए भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

जिस दोष के होते हुए भी रसानुभूति में बाधा नहीं होती है, वह दोषयुक्त काव्य भी काव्य ही है। इसलिए 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरथ्य' में विधेयाविमर्श दोष होने पर भी रसानुभूति में बाधा उत्पन्न नहीं हो रही है, इसलिए वह ध्वनि काव्य का उदाहरण है।

9.3 दोषों का सामान्य लक्षण

'काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सामान्यलक्षणमाह'–

दोषों का सामान्य लक्षण बताने के बाद काव्यप्रकाशकार दोषों का विशेष लक्षण बताते हैं। मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है वही दोष कहा जाता है। मुख्यार्थ का आशय यहाँ वाच्यार्थ से नहीं है अपितु रस से है।

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।।49।।

मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है उसको दोष कहते हैं। मुख्यार्थ पद का अभिप्राय यहाँ वाच्यार्थ न होकर रस है और रस मुख्य (अर्थ) है। इसलिए रस का अपकर्ष करने वाले कारण को दोष कहते हैं। रस का आश्रय वाच्यार्थ होता है, इसलिए वह भी मुख्य अर्थ है। इस प्रकार रस के साथ वाच्य अर्थ का अपकर्ष करने वाला कारण भी दोष कहलाता है। उसे अर्थदोष कहते हैं। शब्दादि रस तथा वाच्य अर्थ दोनों के बोधन में सहायक (उपकारक) होता है। इसलिए जब शब्दादि में भी दोष रहता है तो वह पददोष कहलाता है।

हतिरपकर्षः। शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद् वर्णरचने।

उपरोक्त कारिका में प्रयुक्त हुए 'हति' शब्द का अर्थ यहाँ विनाश न होकर अपकर्ष है। 'शब्दाद्याः' आद्य पद के ग्रहण से यहाँ वर्ण और रचना का बोध (ग्रहण) होता है।

9.3.1 दोषों का विशेष लक्षण

आगे कारिका में मम्मट दोषों का विशेष लक्षण बताते हैं।

दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्।।50।।
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम्।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव।।51।।

(1) श्रुतिकटु, (2) च्युतसंस्कार, (3) अप्रयुक्त, (4) असमर्थ, (5) निहतार्थ, (6) अनुचितार्थ, (7) निरर्थक, (8) अवाचक, (9) तीन प्रकार का अश्लील, (10) सन्दिग्ध, (11) अप्रतीत, (12) ग्राम्य, (13) नेयार्थ–ये सभी दोष पदगत एवं समासगत दोनों प्रकार के होते हैं। (14) क्लिष्ट, (15) अविमृष्टविधेयांश, (16) विरुद्धमतिकृत्–ये तीनों दोष केवल समास में ही होते हैं।

9.4 पदगत दोष

9.4.1 श्रुतिकटु

श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टम्।

कठोर वर्ण के रूप में दुष्ट पद जो रसापकर्षक होते हैं श्रुतिकटु कहलाते हैं।

उदाहरण–

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः।

आलिङ्गितः स तन्वङ्गया कार्तार्थ्यं लभते कदा।।

अर्थात् कामदेव के मङ्गलगृहरूप कटाक्षों की परम्परा से उमङ्गयुक्त कृशाङ्गी से आलिङ्गित वह (युवा)। कब कृतार्थता को प्राप्त होगा। इस श्लोक में 'कार्तार्थ्य' पद कठोर है, उसमें श्रुतिकटु दोष है।

9.4.2. च्युतसंस्कृति

च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम्।

व्याकरण के नियमों के अनुकूल न होने पर अर्थात् जो पद व्याकरण के संस्कारों से हीन होता है, उस पद में च्युतसंस्कृति दोष होता है।

उदाहरण–

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डर–

प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लभ्यते।

तत् पल्लीपतिपुत्रि! कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना–

दीनं त्वामनुनाथते कुचयुंग पत्रावृतं मा कथाः।।

अर्थात् हे भीलों के छोटे से ग्राम की स्वामी की पुत्री! यह (तुम्हारा स्तन) थोड़े पके हुए तेंदू (तिन्दुक) के फल के समान बीच में काला और चारों ओर सफेद (गौरवर्ण), शबर युवक के मर्दन (स्पर्श) करने योग्य दिखायी दे रहा है यह बड़े आनन्द की बात है। इसलिए अपने गण्डस्थल के अभयदान की प्रार्थना से अत्यन्त नम्र होकर हाथियों का समूह तुमसे भीख माँगता है कि तुम इस स्तनयुगल को पत्तों से मत आवृत करो।

इस श्लोक में हाथियों का समूह युवती से प्रार्थना कर रहा है कि अपने स्तनों को पत्तों से मत ढ़को क्योंकि शबरयुवक हाथियों के गण्डस्थल के भेदन को भूलकर स्तनों को देखकर उसके स्पर्श आदि में संलग्न हो जाएगा जिससे हाथियों के समूह को कुछ समय के लिए अभयदान मिल जाएगा।

इस श्लोक में याचना के अर्थ में 'अनुनाथते' पद का प्रयोग किया है जबकि 'नाथ' परस्मैपदी धातु होने से 'अनुनाथति' पद का प्रयोग शुद्ध होता। इसलिए आत्मनेपदी धातु का प्रयोग होने के कारण 'च्युतसंस्कार' दोष है।

'आशीः' अर्थ में नाथ धातु का प्रयोग आत्मनेपदी में किये जाने का विधान है। याचना अर्थ में परस्मैपदी धातु का प्रयोग किया जाता है।

9.4.3 अप्रयुक्त

'अप्रयुक्तं तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम्'।

कोश ग्रन्थों में उस अर्थ में पड़ा होने पर भी कवियों द्वारा न अपनाया हुआ (शब्द प्रयोग) अप्रयुक्त (दोष) है। जैसे–

यथाऽयं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते।

तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽ थवा।।

यह आदमी तो हर समय भयङ्कर आचरण करता हुआ दिखाई देता है। इससे प्रतीत होता है कि इस (व्यक्ति) का उपास्यदेवता राक्षस या पिशाच है।

अत्र दैवतशब्दो 'दैवतानि पुंसि वा' इति पुंस्याम्नातोऽपि न केनचित् प्रयुज्यते।

यहाँ 'दैवतानि पुंसि वा' में दैवत शब्द में पुल्लिंग होता है परन्तु अमरकोश आदि में भी पठित होने पर किसी महाकवि के द्वारा इसका पुल्लिंग में प्रयोग नहीं किया गया है। इसलिए यहाँ अप्रयुक्त दोष है।

9.4.4 अनुचितार्थ

उदाहरण–

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या।
प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनो
रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः।।

अनुचित प्रयोग को अनुचितार्थ दोष कहा जाता है। वर्णन के अनुरूप ही प्रयोग किये जाने चाहिए। उदाहरणस्वरूप उपरोक्त श्लोक का अर्थ है कि ज्ञानकाण्ड के अनुयायी तपस्वी लोग अनेक जन्मों के प्रयत्न के बाद जिस मोक्ष रूपी गति को प्राप्त करते हैं, और कर्मकाण्ड के अनुयायी याज्ञिक लोग प्रयत्नपूर्वक यज्ञों के माध्यम से जिसे प्राप्त करना चाहते हैं उस यद्धरूपी अश्वमेध यज्ञ में पशुओं की तरह मारे गये और संसार में यश प्राप्त करने वाले लोग तुरन्त ही उस गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

'अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम्'।

अर्थात् यहाँ पशुपद (मारे जाने वाले की) कातरता का व्यञ्जक है इसलिए वीरता के वर्णन में इसका प्रयोग अनुचितार्थ है।

9.4.5 ग्राम्यं

ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम्।

अर्थत् जिस शब्द का केवल लोक में प्रयोग किया जाता है, वह ग्राम्य होता है। जैसे–

राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम्।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः।।

अर्थात् पूर्णिमा के चन्द्रमा ने जिससे कान्ति प्राप्त की है अथवा जिसने पूर्णिमा के चन्द्रमा से कान्ति प्राप्त की है, इस प्रकार का तुम्हारा मुख और सोने की शिला के समान सौन्दर्यवाली तुम्हारी कमर मेरे मन को मुग्ध कर रही है।

अत्र कटिरिति–

यहाँ कटि (कमर) शब्द ग्राम्य है। इसका प्रयोग दोषपूर्ण है।

अथ समासगतमेव दुष्टमिति सम्बन्धः। अन्यत्केवलं समासगतं च।

'अथ' का 'समासगतमेव' के साथ सम्बन्ध है, अर्थात् पूर्व में कहे हुए अन्य श्रुतिकटु आदि दोष केवल (असमस्त) पद में और समस्तपद अर्थात् समस्तगत दोनों प्रकार के पददोष होते हैं।

अभिप्राय यह है कि अभी तक बताए गये दोष असमस्तपद में तथा समस्तपद दोनों में ही पददोष माने जाते हैं किन्तु आगे आने वाले क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश और विरुद्धमतिकृत ये तीनों दोष समासरहित एक पद में नहीं होते हैं। ये तीनों दोष समासगत या फिर वाक्यगत होते हैं। अर्थात् अकेले एक पद में न होकर पदसमूह में रहते हैं। यह पदसमुदाय–समस्तपदरूप भी हो सकता है और वाक्यरूप में भी हो सकता है। साहित्यदर्पणकार तथा वामन ने इनको केवल समासगत दोष न मानकर पदगत तथा वाक्यगत दोष भी माना हैं।

9.4.6 क्लिष्ट

क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता।

क्लिष्टं नामक दोष होने पर अर्थ की प्रतीति सीधे न होकर व्यवधान से (अवरोधपूर्ण) होती है। जैसे–

अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल! तव चेष्टितम्।।

हे राजन! आपका चरित्र अत्रिमुनि के नेत्र से उत्पन्न ज्योति अर्थात् चन्द्रमा के उदय से खिलने वाले (कुमुदों) के समान शोभित हो रहा है।

अत्राऽत्रिलोचनसम्भूतस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमेन भासिभिः कुमुदैरित्यर्थः।

इस श्लोक में अर्थ में क्लिष्टता है। अत्रिमुनि के नेत्र से उत्पन्न चन्द्रमा की ज्योति में खिलने वाले कुमुद के समान आपका चरित्र है–इसका अर्थ सीधा न निकल कर व्यवधानपूर्ण है, अतः यहाँ क्लिष्टत्व दोष है।

क्लिष्ट दोष के बाद 'अविमृष्टविधेयांश' दोष आता है। प्रत्येक वाक्य के दो भाग–उद्देश्यभाग तथा विधेयभाग होते हैं। इसमें विधेय भाग की प्रधानता मानी जाती है। प्रत्येक वाक्य के निर्माण में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसकी प्रधानता बनी रहे। जिस वाक्य में विधेयांश का महत्त्व नहीं होता तथा वाक्य की रचना असावधानी से कर दी जाती है उसमें अविमृष्टविधेयांश दोष हो जाता है।

9.4.7 अविमृष्टविधेयांश

अविमृष्ट प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्।

अविमृष्टविधेयांश जहाँ विधेयांश का विचार नहीं किया गया अर्थात् प्राधान्यनिर्देश नहीं किया गया वहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष होता है।

जैसे–

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलद्रक्तसंसक्तधारा
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः।।

हनुमान्नाटक के आठवें अङ्क में भगवान श्रीराम की सेना के द्वारा लंका को घेर लेने पर उसकी रक्षा का प्रयत्न करने के मंत्रियों के परामर्श देने पर रावण कहता है–

'औद्धत्यपूर्वक निरन्तर काटे गए अर्थात् एक के बाद एक दूसरे गले से लगातार बहती हुई (अविच्छिन्न) रक्तधारा से धोये हुये शिवजी के चरणों की कृपा से प्राप्त विजय के वरदान से संसार में मिथ्या महत्त्व को प्राप्त हुए मेरे इन (दस) सिरों का और कैलास को उठाने की इच्छा के आवेश के सूचक उत्कट अभिमान से गर्वित मेरी इन भुजाओं का क्या यही फल है कि इस नगरी की रक्षा में मुझे प्रयास करना पड़े।'

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम्, अपि तु विधेयम्।

इस श्लोक में मिथ्यामहिमाशालित्व उद्धेश्य न होकर विधेय है। इसलिए उसकी प्रधानता की रक्षा के लिए उसमें समास नहीं होना चाहिए। समास होने के कारण उसकी प्रधानता नष्ट हो गई है जिससे यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष आ गया है।

यह श्लोक में 'मिथ्यामहिमाशालित्व' में बहुब्रीहि समास होने से अविमृष्टविधेयांश दोष का उदाहरण है। 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग से उद्घृत अगले श्लोक में कर्मधारय समास के द्वारा 'अविमृष्टविधेयांश' दोष का उदाहरण दिया गया है। इसमें कवि पार्वती का वर्णन करते हुए कहता है–

स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य।।

अथवा जैसे–

(धरोहर को रखने के) उचित स्थान को पहचानने वाले कामदेव के द्वारा (पार्वती के नितम्बस्थल के पास) धरोहर के रूप में रखी हुई (अपने) धनुष की दूसरी प्रत्यञ्चा के समान मौलश्री के फूलों की मालारूप, और नितम्बों पर से (बार–बार) खिसक पड़ने वाली करघनी को बार–बार चढ़ाती हुई (पार्वती दिखलायी दीं)।

यहाँ (मौर्वी के) द्वितीयत्वमात्र की उत्प्रेक्षा है, इसलिए वह विधेय है। जिसमें समास कर दिया गया जिसके कारण यहाँ दोष उत्पन्न हो गया है। यहाँ 'मौर्वी द्वितीयां' यह पाठ होने पर यहाँ दोष नहीं होता। यथा वा अथवा जैसे–समासगत अविमृष्टविधेयांश का अन्य उदाहरण।

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने।।
अत्रालक्षिता जनिरिति वाच्यम्।

हे मृगशावक के समान नेत्रवाली, (जिस शिव की प्राप्ति के लिए इतना कठोर तपश्चरण कर रही हो उनका) शरीर तीन नेत्रवाला (विरूपाक्ष) है, उनके जन्म का कोई पता नहीं और (दरिद्रता के कारण) नग्नता से ही उसके धन की सूचना मिल जाती है। (तो फिर) वरों में जो (रूप, कुल तथा धन) देखा जाता है उनमें से कोई एक भी गुण तीन आँख वाले (शिव) में है? (जो तुम उसके लिए व्याकुल हो रही हो)।

यहाँ (समस्तपद के स्थान पर) 'अलक्षिता जनिः' यह (व्यस्त) कहना चाहिए।

शिव जी के जन्म के विषय में कुछ भी ज्ञात न होने के कारण अलक्ष्यता विधेय है। इसलिए 'अलक्ष्यता' पद को समास में रखने से अविमृष्टविधेयांश दोष हो गया है। यहाँ बहुब्रीहि समास है।

नञ् समास में अविमृष्ट विधेयांश दोष का उदाहरण इस प्रकार है–

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्तसन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता।
या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्ता तान्तिं तनोति तव सम्प्रति धिग् धिगस्मान्।।
अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः।

अर्थात्–जो आपके लिए (कभी अर्थात् पहले) आनन्द की सागर थी, और आपके अत्यन्त चञ्चल चित्त को बाँध रखने का एक मात्र स्थान थी, जिसको आप एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ते थे, आज उसके समाचार जानने की चिन्ता आपको हर समय क्लेश देती रहती है। इससे हम लोगों को बार–बार धिक्कार है।

निषेध के अर्थ में नञ दो प्रकार का होता है–

1. प्रसज्यप्रतिषेध नञ् तथा
2. पर्युदास नञ्

जहाँ निषेध की प्रधानता होती है वहाँ 'प्रसज्यप्रतिषेध' होता है और जहाँ प्रतिषेध (निषेध) की अप्रधानता में सदृश पदार्थ के बोध के लिए ' पर्युदास' होता है–

द्वौ नञर्थौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्।।

ऊपर दिये गये उदाहरण में 'न मुक्ता' यह निषेध विधेय है इसलिए यहाँ समासरहित प्रसज्यप्रतिषेध नञ् का ही प्रयोग होना चाहिए था परन्तु 'अमुक्ता' पद से समास करके पर्युदास नञ् बना देने से यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष उत्पन्न हो गया। समस्त (समास किये हुए) 'अमुक्ता' पद का प्रयोग दोषपूर्ण है।

नञ् का समास होने पर नञ् का 'प्रसज्यप्रतिषेध' वाला रूप समाप्त होकर पर्युदासात्मक रूप हो जाता है।

प्रसज्यप्रतिषेध में प्रतिषेध की प्रधानता होती है तथा क्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध होता है –

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्।।

जबकि पर्युदास में प्रतिषेध की प्रधानता नहीं रहती और नञ् का क्रिया के साथ सम्बन्ध न होकर उत्तरपद के साथ सम्बन्ध रहता है–

प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।।

9.4.8 विरुद्धमतिकृत्

किसी विशेष समस्त पद के प्रयोग द्वारा अर्थ विपरीत अर्थ देने लगे तो वहाँ विरुद्धमतिकृत दोष होता है। उदाहरण–

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः।

अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे।।

अर्थात्–चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल (निर्दोष) व्यवहार करने वाला और निःस्वार्थ मित्र वह एक ही है अर्थात् अद्वितीय है। उसका क्या वर्णन किया जाए।

इस स्थान पर बिना किसी कार्य अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ वाला अर्थात् 'निःस्वार्थ मित्र' यह अर्थ विवक्षित है। परन्तु 'अकार्यमित्र' पद से 'अकार्य' पद बुरे काम के अर्थ को प्रतीत कराता है। अतः यहाँ विरुद्धमतिकृत दोष है। इसी प्रकार–

चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः।

कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम्।।

अत्र कण्ठग्रहमिति वाच्यम्।

अर्थात्–बहुत दिनों के बाद मिले हुए, नेत्रों को आनन्द देने वाले पति के गले में पत्नी तुरन्त ही लिपट जाती है।

इस उदाहरण में 'गलग्रहम्' के स्थान पर 'कण्ठग्रहम्' का प्रयोग किया जाना चाहिए था। गलग्रहम् पद से गला दबोच लेना, गले से पकड़ कर निकाल देना आदि अनिष्ट अर्थों की प्रतीति होने से विरुद्धमतिकृत् दोष है।

क्लिष्टत्व, अविमृष्टविधेयांश तथा विरुद्धमतिकृत् ये तीनों दोष समासगत ही होते हैं जबकि श्रुतिकटु आदि अन्य दोष पदगत एवं समासगत दोनों होते हैं। श्रुतिकटु आदि के पदगत दोष के उदाहरण पूर्व में दिये जा चुके हैं। अतः यहाँ मात्र प्रतीकात्मक रूप से श्रुतिकटु का समासगत उदाहरण दे रहे हैं।

9.5 समासगत श्रुतिकटु

सा दूरे सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना।

बर्हिनिर्ह्लादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः।।

अर्थात्–अमृत की भरी (तरङ्ग) उज्ज्वल नेत्रवाली वह (सीता) दूर है और मयूरों के केकारवका कराने वाला यह (वर्षा का) समय आ गया है।

यहाँ बर्हिनिह्र्लादनार्ह यह समस्त पद श्रुतिकटु है। इसी प्रकार अन्य दोषों के समासगत उदाहरण होते हैं।

संभावित प्रश्न

प्रश्न–(1) दोष का सामान्य लक्षण बताइए।

प्रश्न–(2) पदगत दोष से क्या समझते है।

प्रश्न–(3) समासगत दोष से क्या समझते है।

इकाई–10 वाक्यगत दोष

इकाई की रूपरेखा

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 वाक्यगतदोष

10.3.1 प्रतिकूलवर्णता

10.3.2 विसन्धि

10.3.3 हतवृत्तता

10.3.4 न्यूनपदता

10.3.5 कथितपदता

10.3.6 पतत्प्रकर्षता

10.3.7 प्रसिद्धिविरुद्धता

10.3.8 भग्नप्रक्रमता

10.1 उद्देश्य

- काव्यप्रकाश के (सप्तम उल्लास में वर्णित) काव्य–दोषों के अन्तर्गत वाक्यगत दोषों का अध्ययन कर सकेंगे।
- वाक्यगत दोषों के अन्तर्गत अनेक दोषों का लक्षण जान सकेंगे।
- वाक्यगत दोषों को उदाहरण द्वारा समझ सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने सप्तम उल्लास में वर्णित दोष–प्रकरण के अन्तर्गत पद, वाक्य तथा पदैकदेश में रहने वाले 16 सामान्य दोषों के निरुपण करने के बाद केवल वाक्य में ही रहने वाले 20 दोषों का निरुपण किया है। इन सभी 20 दोषों के नाम इस प्रकार हैं–

प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्ग विसन्धि हतवृत्तम्।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्।।
अर्थान्तरैकवाचकमभवन्तमतयोगमनभिहितवाच्यम्।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम्।।
भग्नप्रक्रममक्रममममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा।

(1) प्रतिकूलवर्णता, (2) उपहतविसर्गता, (3) विसंधि, (4) हतवृत्तता, (5) न्यूनपदता, (6) अधिकपदता, (7) कथितपदता, (8) पतत्प्रकर्षता, (9) समाप्तपुनरात्तता, (10) अर्थान्तरैकवाचकता, (11) अभवन्मतसम्बन्ध, (12) अमतयोग, (13) अनभिहितवाच्यता, (14) अस्थानपदता, (15) अस्थानसमासता, (16) सङ्कीर्णता, (17) गर्भितता, (18) प्रसिद्धिविरोध, (19) भग्नप्रक्रमता, (20) अक्रमता, (21) अमरार्थता ये वाक्यदोष होते हैं। इन सभी दोषों में से अधोलिखित दोषों का अध्ययन इस प्रश्नपत्र में प्रस्तावित है।

10.3 वाक्यगत दोष

10.3.1 प्रतिकूलवर्णता

रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम्।

रसों के अनुरूप वर्णों का प्रयोग न होने पर अर्थात् रसों के अनुरूप जिस प्रकार के वर्णों का प्रयोग उचित माना गया है, उनके विपरीत वर्णों के प्रयोग होने पर प्रतिकूलवर्ण नामक वाक्यदोष होता है।

10.3.1.1. श्रृंगार रस के उदाहरण में

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्त्तिमुद्धर।।

अर्थात् हे कलकण्ठि! (नायिका की सखी जा दूती का काम कर रही है) प्रबल उत्कण्ठा से कण्ठ तक भरे हुए मुझको थोड़ी देर के लिए शङ्ख के समान अर्थात् उतार–चढ़ाव से युक्त गर्दन वाली (कम्बुकण्ठ वाली प्रियतमा) के कण्ठालिङ्गन करने का अवसर दो और (इस प्रकार मेरे गले में) अटके हुए प्राणों (कण्ठ के क्लेश) को बचाओ।

श्रृङ्गाररस में श्रुतिकटु होने से टवर्ग का प्रयोग वर्जित माना गया है। अष्टम उल्लास में वर्णित गुण प्रसंग में मम्मट ने सूत्र के माध्यम से स्पष्ट लिखा है–

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
आवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।

इस सूत्र द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया है कि अटवर्गी (ट, ठ, ड, ढ़) को छोड़ कर शेष स्पर्श वर्ग माधुर्य के व्यञ्जक होते हैं। इसलिए ऊपर दिये गये श्रृंगार के प्रसंग में टवर्ग के संयोजन के कारण (प्रतिकूल वर्णों के प्रयोग के कारण) प्रतिकूलता दोष है।

10.3.1.2 रौद्र रस के उदाहरण में

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः।
तान्येवाहितहेतिघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे।
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः।

अत्र हि विकट वर्णत्वं चोचितम्।

अर्थात् यह (कुरुक्षेत्र का मैदान) वही देश है, जिसमें (परशुराम) ने शत्रुओं के रक्तरूप–जल से तालाबों को भर दिया था, और क्षत्रिय द्वारा पिताजी के केशों का पकड़ा जाना उसी प्रकार का अपमान है (जैसा कि कार्तवीर्य अर्जुन ने परशुराम के पिता जामदग्न्य के केश पकड़कर किया था) और (अपने विरोध में) शस्त्र उठाने वाले शत्रु को खा जाने वाले (घस्मर) वे ही उत्तम (गुरूणि) शस्त्र मेरे पास हैं। इसलिए (समस्त) क्षत्रियों का विनाशरूप जो (कार्य उस समय) परशुराम ने किया था, उसी को आज क्रुद्ध हुआ द्रोण का पुत्र (मैं या अश्वत्थामा) कर (ने जा) रहा है।

ऊपर दिये गये प्रतिकूलवर्णता दोष के रौद्र रस के उदाहरण में कवि ने न तो लम्बे समासों का प्रयोग किया, न ही कठोर वर्णों का जबकि रौद्र रस में विकट (कठोर) वर्णों तथा दीर्घ समासों का प्रयोग उपयुक्त माना जाता है। इसलिए यहाँ प्रतिकूलवर्णता दोष है।

10.3.2 विसन्धि

विसन्धि नामक वाक्यदोष में जहाँ सन्धि होनी चाहिए, वहाँ सन्धि का ना होना विसन्धि दोष कहलाता है।

विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम्, विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च।

सन्धि वैरूप्य अर्थात् सन्धि स्थल में सन्धि न होने के तीन कारण माने जाते हैं–विश्लेष, अश्लीलता और कष्टता।

10.3.2.1 विश्लेष

पहले कारण विश्लेष में सन्धिस्थल पर सन्धि करना या ना करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है। अन्य, दोनों कारण शास्त्रीय नियमों के अधीन हैं। एक में तो प्रगृह्यसंज्ञा होने के कारण सन्धि नहीं होती तथा दूसरे में विसर्ग का लोप होने पर गुण आदि रूप सन्धि प्राप्त होती है परन्तु सन्धि करने पर छन्दभङ्ग हो जाता है। इसलिए यहाँ सन्धि नहीं की गई है। इसमें कवि की अशक्ति दिखलाई पड़ती है अतः यहाँ विसन्धि दोष है। उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है–

राजन्! विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः।।

अर्थात् हे राजन्! आपके वे (लोकोत्तर) चरित्र जो रसातल (के गहन अन्धकार) में भी चन्द्रमा के समान (प्रकाशमान) कान्ति को धारण करते हैं, अत्यन्त शोभित होते हैं और आपके अत्यन्त प्रसिद्ध एवं उचित कार्य में लगे बुद्धिबल तथा बाहुबल दोनों विजयसम्पत्ति का विस्तार करते हुए अत्यन्त शोभित हो रहे हैं।

यहाँ पूर्वार्द्ध में 'तानि इन्दोः' इस स्थान पर ऐच्छिक 'विश्लेष' अथवा 'संध्यभाव' विसंधिरूप दोष है साथ ही साथ उत्तरार्द्ध में 'धीदोर्बले अतितते' 'अतितते उचितानुवृत्ती' और 'उचितानुवृत्ती आतन्वती' में 'ईदूदेद्द्विवचन प्रगृह्यम्' (1.1.11) के अनुसार द्विवचनरूप प्रगृह्यसंज्ञक का 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (6.1.125) के अनुसार

'प्रकृतिवद्भाव' होने से ज्यों का त्यों रहना प्राप्त हो रहा है। तीनों स्थानों पर संधिविश्लेष अथवा सन्धि का अभाव है, जो कवि की अशक्ति का परिचायक है। अतः यहाँ विसन्धि नामक दोष है। अपनी इच्छा से सन्धि न करने पर असिद्धि–मूलक सन्धि विश्लेष नामक विसन्धि दोष होता है।

10.3.2.2 अश्लीलताजन्य विसन्धि दोष

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः।

अयमुत्तपते पत्त्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु।।

अर्थात् 'अरी सखि! जब तक यह पक्षी (बाज) वेग से उड़कर आकाश में विचरण करते हुये विकट दृश्य उपस्थित कर रहा है और अपने गर्व में चूर है तब तक यही अच्छा है कि यहीं इसी स्थान पर तू ठहर जा।'

यहाँ 'चलन् + डामर + चेष्टितः' और 'रुचिम् + कुरु' में 'चलण्डामरचेष्टितः' और 'रुचिङ्कुरु' रूप सन्धि में 'शिश्नेन्द्रिय' और 'योनि' रूप अश्लील अर्थ क्रमशः अभिव्यक्त हो रहे हैं जिससे अश्लीलत्व नामक विसन्धि दोष हो रहा है।

10.3.2.3 कष्टताजन्य विसन्धि दोष

सन्धि के कारण उत्पन्न कष्टता का उदाहरण देते हैं–

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः।

नात्रर्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक्।।

अर्थात् 'यहाँ मरुदेश के मध्य में (अन्ते) यह विस्तीर्णा (उर्वी) एवं सुन्दर स्थितिवाले वृक्षों की पंक्ति है। यहाँ सीधे (खड़े होकर) चला नहीं जा सकता है इसलिए तनिक सिर झुका लो।

अत्र 'उर्ण्यसौ' इत्यादौ संधेः श्रुतिकटुत्वरूपं कष्टत्वम्।

अत्र तरुश्रेण्या विशेषणविशेष्यभावेनान्वयाद्वाक्यदोषता।

अत्र दूषकताबीजं पददोषप्रस्तावे, उक्तम्।

इस श्लोक में उर्वी + असौ, तरु + आली, मरु + अन्ते, चारु + अवस्थितिः, अत्र + ऋजु इन पदों में सन्धि होकर श्लोक का जो प्रकृत पाठ बन गया है, वह सुनने और अर्थज्ञान दोनों में ही कष्टदायक है। अतः यहाँ सन्धि के कारण कष्टसन्धि का उदाहरण है।

10.3.3 हतवृत्तता

हतवृत्तता नामक वाक्यगत दोष तीन प्रकार का होता है।

हतं लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम्।

'हतवृत्तता' का अभिप्राय है ऐसी वृत्तरचना का होना जो कि (छन्दशास्त्र में प्रतिपादित वृत्त–लक्षण के अनुसार ठीक होने पर भी या तो) 'अश्रव्य' हो अर्थात् सुनने में खटके या 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' (अन्तिम लघु जिसमें गुरुभाव को प्राप्त नहीं होता है) तथा 'रसाननुगुण' (अर्थात् रस के अनुरूप जिसका छन्द ना हो)।

10.3.3.1 अश्रव्यत्वरूपहतवृत्तता

उदाहरण–

अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्।।

अर्थात् (लोकोत्तर स्वादयुक्त) अमृत ही होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शहद भी (मधुर ही है) अन्य प्रकार का अर्थात् अस्वाद या फीका नहीं है। मधुर रसयुक्त आम का फल भी अत्यन्त मीठा होता है। परन्तु अन्य सभी रसों के मर्मज्ञ कोई एक भी ऐसा निष्पक्ष व्यक्ति है जो यह बतलाए कि इस संसार में प्रिया के अधर से अधिक मधुर क्या कोई भी वस्तु हो सकती है।

यहाँ 'वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात्' अश्रव्य दोषयुक्त है। क्योंकि इस श्लोक में हरिणी छन्द है जिसका लक्षण है–'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौम्लौ गो यदा हरिणी तदा'। हरिणी छन्द के प्रत्येक चरण में छठे अक्षर पर यति होनी चाहिए। चतुर्थ चरण में 'वदतु चदिहा' के पश्चात् यति की अपेक्षा थी, परन्तु यदि भङ्ग होने से अश्रव्य है। अतः यहाँ हतवृत्तता दोष है। इसके स्थान पर यदि 'वदतु मधुरं यत्स्यादन्यत् प्रियादशनच्छदात्' यह पाठ कर दिया जाए तो दोष नहीं रहेगा।

10.3.3.2 अप्राप्तगुरुभावान्तलघुरूप हतवृत्ता

अप्राप्तगुरुभावान्तलघुरूप हतवृत्त का उदाहरण–
विकसितसहकारतारहारिपरिमलगुञ्जितपुञ्जितद्विरेफः।
नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः।।
अत्र हारिशब्दः। 'हारिप्रमुदितसौरभ' इति पाठो युक्तः।

अर्थात् खिले हुए आमों के दूर फैले हुए (तार) और मनोहर सुगन्ध से (उन्मत होकर) गुञ्जार करते हुए भ्रमरों के समूह जिसमें (चारणों के समान) एकत्र हो रहे हैं और नवीन पत्र ही जिसका सुन्दर चमर है, इस प्रकार का (ऋतुराज) वसन्त मुनियों के मन को भी मोह लेता है।

यह अप्राप्तगुरुभावान्तलघु का उदाहरण है। यहाँ पुष्पिताग्रा छन्द के लक्षण–'अयुजि नयुगरेफतो जकारो चुयजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' के अनुसार प्रथम चरण के अन्त में आदि लघु यगण का प्रयोग होने से अन्तिम वर्ण 'रि' गुरु होना चाहिए था। वैसे 'रि' स्वरूपतः लघुवर्ण है, परन्तु 'वा पादान्ते' के नियम के अनुसार वह गुरु माना जा सकता है। परन्तु छन्दशास्त्र की व्याख्या के अनुसार इस नियम को इन्द्रवज्रा आदि कतिपय छन्दों तक इसे परिमित माना गया है। इसलिए पुष्पिताग्रा छन्द यह नियम लागू नहीं होता है और इसलिए अन्तिम लघुवर्ण को गुरुवर्ण नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार यह उदाहरण 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' का उदाहरण है। यहाँ यदि 'रि' के बाद आए 'परिमल' शब्द के स्थान पर 'प्रमुदित' कर दिया जाए तो संयुक्ताक्षर वर्ण के बाद में होने पर 'रि' गुरु हो जाएगा तथा अप्राप्तगुरुभावान्तलघु हतवृत्तता दोष समाप्त हो जाएगा।

अतः दोष के परिहार के लिए 'हारिप्रमुदितसौरभ' पद उचित है।

दूसरा उदाहरण–

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थलात्।
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च।।
अत्र 'वस्त्राण्यपि' इति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते।

प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। जिसके लक्षण–'सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शाईलविक्रीडित' के अनुसार श्लोक के प्रत्येक पाद का अन्तिम अक्षर गुरु होना चाहिए। चतुर्थ चरण के अन्तिम वर्ण 'च' को 'वा पादान्ते' नियम के अनुसार गुरु होना चाहिए था। परन्तु स्वाभाविक शिथिलता के कारण गुरु के रूप में उसका अनुभव नहीं हो पाता है। इसलिए यहाँ 'अप्राप्रगुरुभावान्तलघु' हतवृत्तता दोष उत्पन्न हो रहा है।

दोष का परिहार करने के लिए 'वस्त्राण्यपि' कर देने पर स्वरूप से लघु 'पि' संयुक्ताक्षर के बाद होने से उत्पन्न उच्चारण में दृढ़ता के कारण गुरुभाव को प्राप्त हो जाता है।

10.3.3.3 रसाननुगुण हतवृत्तता

हतवृत्तता नामक दोष का तीसरा भेद है–रसाननुगुण हतवृत्तता।

हा नृप! हा बुध! हा कविबन्धो! विप्रसहस्रसमाश्रय! देव!
मुग्ध! विदग्ध! सभान्तररत्न! क्वासि गतः क्व वयं च तवैते।।

हास्यरसव्यञ्जकमेतद् वृत्तम्।

अर्थात् हे राजन्! हे विद्वान्! हे कवियों के बन्धु! और हे सहस्रों ब्राहमणों के आश्रय देव! हे सुन्दर (मुग्ध)! हे विद्वानों की सभा के मध्य रत्न (रूप राजन्)! आप कहाँ चले गये और आपके (प्रिय या आश्रित) ये हम कहाँ (रह गये) हैं।

इस श्लोक में करुण रस का प्राधान्य है।

इस श्लोक में लोगों के विलाप का वर्णन होने के कारण करुण रस का प्राधान्य है। कवि द्वारा प्रयुक्त 'दोधक' छन्द करुण रस का व्यञ्जक न होकर हास्य रस का व्यञ्जक है। इसलिए रसानानुगुण न होने के कारण 'हतवृत्तता' नामक दोष है।

10.3.4 न्यूनपदता

न्यूनपदता के उदाहरण–

तथाभूतां दृष्टवा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।।

अत्रास्माभिरिति, 'खिन्ने' इत्यस्मात्पूर्वमित्थमिति च।

अर्थात् उस राजसभा में पाञ्चाली (द्रौपदी) की उस प्रकार की (बाल और वस्त्र खींचे जाने की) अवस्था को देखकर (गुरु नाराज नहीं हुए, उनको क्रोध नहीं आया) फिर वन में वल्कल धारण कर चिरकाल (बारह वर्ष) तक व्याधों के साथ रहते रहे (तब भी उनको क्रोध नहीं आया) फिर विराट के घर में (रसोईया आदि के) अनुचित कार्यों को करके छिपकर जो हम रहे (उस समय भी गुरु को क्रोध नहीं आया) और आज भी उनको कौरवों पर तो क्रोध नहीं आ रहा है। पर मैं कौरवों पर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर नाराज होते हैं।

वेणीसंहार नाटक के इस श्लोक के तीनों चरणों में कर्त्तारूप में 'अस्माभिः' पद होना चाहिए था, उसके न होने से यहाँ न्यूनपदता दोष उत्पन्न हो गया है। चतुर्थ चरण में 'खिन्ने' से पूर्व 'इत्थं' पद होना चाहिए था परन्तु यहाँ उसके न होने पर न्यूनपदता दोष है।

10.3.5 कथितपदता

कथितपदता का उदाहरण–

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीलापरिमिलननिमीलत्पाण्डिमा–गण्डपाली।
सुतनु! कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम्।।

अत्र लीलेति।

अर्थात् करतलरूपी शय्या पर शयन करने के कारण (हाथ की) रगड़ से जिसकी पाण्डुता दूर हो गयी है (जिसमें लालिमा का उदय हो गया है) ऐसी तुम्हारी कपोलस्थली, हे सुतनु! यह बताओ किस (सौभाग्यशाली) के कामरूप राजा की लीलाओं के युवराज पद पर शीघ्र ही होनेवाले अभिषेक को सूचित करती है।

यहाँ 'लीला' पद प्रथम तथा चतुर्थ चरण में दो स्थान पर प्रयुक्त हुआ है, अतः कथितपद दोष या पुनरुक्त दोष है।

10.3.6 पतत्प्रकर्षरूप

पतत्प्रकर्षरूपता का उदाहरण–

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्तते।।

अर्थात् क्योंकि आज सिंहनी के स्नेह के प्रेमानन्द में सिंह एक स्थान में बँध गया है, इसलिए (उसके अभाव में निश्शङ्क होकर) कौन–कौन सा घुर्घुर शब्द करने वाली नाके कारण भयङ्कर सुअर कहाँ नहीं घुर्राता है, कौन कौन हाथी किस कमलों के तालाब को कमलों से रहित करने को तैयार नहीं हो गया है और कौन–कौन से जङ्गली भैंसे किन वनों का उन्मूलन न कर देंगे।

उपरोक्त श्लोक के प्रारंभिक तीन चरणों में वर्णों की रचना में जिस प्रकार की कठोरता है, उस प्रकार की कठोरता चतुर्थ चरण में नहीं है, इसलिए यह पतत्प्रकर्ष दोष हो गया है।

10.3.7 प्रसिद्धिविरुद्धता दोष

कवियों में कुछ विशेष शब्दों तथा अर्थों का विशेष रूप में वर्णन करने के नियम या परम्परा को 'कविसमय' या 'कविप्रसिद्धि' कहा जाता है। इस 'कविसमय' या कविप्रसिद्धि का उल्लङ्घन होने पर 'प्रसिद्धिविरुद्धता' दोष होता है। इस दोष को स्पष्ट करने के लिए पहले कुछ शब्दों के विशेष प्रयोग को दिखाकर फिर उसके अन्यथा प्रयोग के कारण प्रसिद्धि–विरुद्धता दोष को स्पष्ट करेंगे।

उदाहरण–

मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति।

स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्।।

मञ्जीर आदि शब्द का कथन करने में रणित आदि जैसे शब्दों का, पक्षियों के शब्द में कूजित आदि, सूरत में स्तनित, मणित आदि तथा मेघ आदि के शब्द में गर्जित आदि का प्रयोग करना चाहिए।

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम्। यथा–

इस प्रकार की प्रसिद्धि का अतिक्रमण करने वाला (प्रसिद्धिविरुद्धता दोष होता है)। जैसे–

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक

प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः।

रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः

कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः।।

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषे सिंहनादे।

अर्थात् महाप्रलय की वायु से क्षुभित (चतुर्दश प्रकार के) पुष्करावर्तक आदि नामों से प्रसिद्ध भयङ्कर मेघों के गर्जन की प्रतिध्वनि के सदृश सुनने में भयङ्कर लगनेवाला (अथवा कानों को भयप्रद) आकाश और पृथिवी को भर देनेवाला यह समरसागर से उत्पन्न अपूर्व शब्द सामने से क्यों (या कहाँ से) आ रहा है।

इस श्लोक में 'रव' शब्द मेंढ़क आदि (के शब्द) में प्रसिद्ध है, न कि उक्त प्रकार के विशिष्ट सिंहनाद (के अर्थ) में। इसलिए यहाँ प्रसिद्धिविरुद्धता दोष है।

10.3.8 भग्नप्रक्रमता दोष

भग्न प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र।

जहाँ प्रकरण का भङ्ग हो जाए अर्थात् प्रस्ताव में भङ्ग हो जाने पर भग्नप्रक्रमता दोष हो जाता है।

यथा–भग्नप्रक्रमता का उदाहरण–

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तङ्गते हन्त निशाऽपि याता।

कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति।।

अर्थात् दैववश रात्रि के पति अर्थात् चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर रात्रि भी चली (विनष्ट हो) गयी, यह दुःख की बात है। किन्तु कुलाङ्गनाओं के लिए (पति की मृत्यु रूप इस) दशा के योग्य इससे अधिक अच्छी और कोई बात सम्भव नहीं है।

उपरोक्त श्लोक के उदाहरण में भग्नप्रक्रमता दोष है क्योंकि 'गता' के प्रकरण में 'गम' धातु का प्रयोग किया गया है वहीं 'याता' का प्रयोग करने पर मूलधातु के बदल जाने से भग्नप्रक्रमता दोष उत्पन्न हो गया है।

इस प्रकार भग्नप्रक्रमता को बचाने के लिए यदि 'गता' पद का दो बार प्रयोग के ग्रन्थकार के सुझाव को माना जाए तो पुनरुक्ति दोष उत्पन्न हो जाएगा। ऐसा स्वयं ग्रन्थकार के साथ–साथ अनेक विद्वानों ने भी निषिद्ध किया है। प्रश्न उठता है कि फिर ग्रन्थकार 'गता' पद के दो बार प्रयोग को कैसे स्वीकार कर रहे हैं। ग्रन्थकार उत्तर देते हुए स्पष्ट करते हैं कि एक पद के दो बार प्रयोग का निषेध उद्देश्य–प्रतिनिर्देश्यभाव से भिन्न स्थल में ही लागू होता है जहाँ उद्देश्य–प्रतिनिर्देश्यभाव होता है, वहाँ तो नियमतः उसी पद का प्रयोग होना चाहिए। अन्यथा की स्थिति में प्रतिनिर्देश्य अर्थ को अन्य पर्यायवाचक शब्द से कहने पर अर्थ की प्रतीति उतने सुन्दर रूप से नहीं होती है।

ननु 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इत्यन्यत्र 'कथितपदं दुष्टम्' इति चेहैवोक्तम्, तत्कथमेकस्य पदस्य द्विः प्रयोगः? उच्यते। उद्देश्य प्रतिनिर्देश्यण्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनिषेधस्य। तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः।

तथा हि–

जैसा कि निम्न श्लोक के माध्यम से समझेंगे–

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।।

अत्र 'रक्त एवास्तमेति' इति यदि क्रियेत तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीति स्थगयति।

अर्थात् सूर्य लाल ही उदित होता है और अस्त होते समय भी लाल ही अस्त होता है। महापुरुषों का सम्पत्ति तथा विपत्ति दोनों में एक सा रूप रहता है।

यहाँ उद्देश्यस्थल तथा प्रतिनिर्देश्यस्थल में दोनों जगह एक ही पद 'ताम्र' का प्रयोग विशेषण के रूप में किया गया है। यदि 'ताम्र' पद के स्थान पर प्रतिनिर्देश्यस्थल में 'रक्त' पद का प्रयोग किया जाए जो कि ताम्र का पर्यायवाची शब्द है तो वह 'रक्त' पद ताम्रत्वरूप अर्थ से भिन्न अर्थ के समान प्रतीत होता है। साथ ही सम्पत्ति–विपत्ति दोनों में एकरूपता की प्रतीति में बाधा उत्पन्न करना है, इसलिए यहाँ भग्नप्रक्रमता दोष हो जाता है।

10.3.8.1 प्रत्ययगत भग्नप्रक्रमता

'किरार्ताजुनीयम्' के तृतीय सर्ग में अर्जुन के प्रति द्रौपदी की उक्तिरूप निम्नश्लोक प्रत्ययगत भग्नप्रक्रमता दोष का उदाहरण है–

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः।।

अत्र प्रत्ययस्य। 'सुखमीहितुं वा' इति युक्तः पाठः।

अर्थात् यश प्राप्त करने के लिए अथवा सुख को पाने के लिए, अथवा साधारण जनों की गणना का उल्लङ्घन करने के लिए प्रयत्नशील पुरुषों की (लक्ष्मी प्राप्त करने की) इच्छा न होने पर भी (स्वयं) ही उत्सुक हुई सी लक्ष्मी उनकी गोद में आ जाती है।

यहाँ प्रत्यय की भग्नप्रक्रमता है। 'सुखलिप्सया' के स्थान पर 'अधिगन्तुं' के समान 'सुखमीहितुं वा' यह तुमुन् प्रत्ययान्त पाठ उचित है। प्रकृतिगत और प्रत्ययगत भग्नप्रक्रमता दोष का उदाहरण देने के बाद आचार्य ने सर्वनाम, पर्याय, उपसर्ग, वचन, कारक तथा क्रम की भग्नप्रक्रमता को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। इस प्रकार भग्नप्रक्रमता के आठ भेद किये गये हैं।

•

इकाई–11 अर्थ दोष

इकाई की रूप–रेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 अर्थदोष

- 11.2.1 अपुष्टदोष
- 11.2.2 कष्टार्थदोष
- 11.2.3 सन्दिग्धदोष
- 11.2.4 विधाविरुद्धतादोष
- 11.2.5 अपदयुक्तादोष
- 11.2.6 प्रकाशितविरुद्धता
- 11.2.7 अश्लीलता

11.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के पश्यात् अर्थदोषों का जान सकेगें।
- मम्मटकृत 23 अर्थदोषों के नाम जान सकेगें।

11.1 प्रस्तावना

दोष प्रकरण में अर्थदोषों का महत्व बहुत अधिक है। ये दोष अर्थ को प्रभावित करते है। इन दोषों से अर्थ की प्रतीति में अवरोध होता है।

11.2 अर्थदोष

पदगत, पदांशगत तथा वाक्यगत दोषों के निरूपण के बाद आचार्य अर्थदोषों का निरूपण करते हैं। काव्य प्रकाशकार ने कुल 23 अर्थदोषों की चर्चा अपने ग्रन्थ में की है।

अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः।।
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः।।

साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः।

विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनःस्वीकृतोऽश्लीलः।।

इस इकाई के अन्तर्गत अर्थदोषों का अध्ययन प्रस्तावित है।

अर्थदोष पीछे से अनुवृत्ति द्वारा या आक्षेप द्वारा सम्बद्ध होता है। सबसे पहले अपुष्ट आदि दोषों का क्रमशः उदाहरण यहाँ दे रहें–

11.2.1 अपुष्ट दोष

विशेषणों आदि का ग्रहण न करने पर भी जब अर्थ की प्रतीति में कोई बाधा नहीं होती है तब अपुष्टार्थ होता है। असङ्गत अथवा पुनरुक्त नहीं होता है।

अपुष्ट दोष का उदाहरण–

अतिविततगगनसरणि प्रसरण परिमुक्तविश्रमानन्दः।

मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति।।

अर्थात् अत्यन्त विस्तीर्ण गगन–मार्ग में (निरन्तर/प्रतिक्षण) चलते रहने के कारण विश्रामसुख का परित्याग कर देने वाले और वायु के द्वारा जिसका सौरभ प्रसारित किया जा रहा है, इस प्रकार के कमलसमुदाय को विकसित करनेवाले सूर्य सर्वोत्कर्षशाली हैं।

11.2.2 कष्टार्थदोष

कष्टार्थदोष में श्लोक का अर्थ क्लिष्टता से समझ में आता है। कष्टार्थदोष का उदाहरण–

सदा मध्ये यासामियममृतनिस्यन्दसुरसा

सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम्।

प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां

महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः।।

कष्टार्थदोष के उदाहरण के रूप दिया गया उपरोक्त श्लोक अत्यन्त कठिन है। इसका अर्थ अत्यन्त कठिनता से समझ आता है। प्राचीन टीकाकारों ने 'घनपरिचिताः' मेघों से आच्छादित 'महतां' द्वादश आदित्यों की 'रुचयः' प्रभा किस प्रकार स्वच्छ हो सकती है, इस प्रकार की दूसरी व्याख्या की है। परन्तु यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है। प्रतीयमान अर्थ का प्रस्तुत अर्थ के साथ सामान्यतः उपमानोपमेय–भाव सम्बन्ध होता है। मेघाच्छन सूर्य को कान्तिवाले अर्थ का प्रकृत अर्थ के साथ उपमानोपमेय सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अतः यह अर्थ संगत नहीं हो सकता है।

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति ताः, गम्भीरकाव्य परिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना भवन्तु। यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ताः, मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति संक्षेपार्थः।

अर्थात् जिन कवियों के मध्य वक्रोक्तिकार कुन्तक सुकुमार, विचित्र तथा मध्यमरूप तीनों मार्गों में चलने वाली भारती चमत्कार को उत्पन्न करती है। गम्भीर काव्यों से परिचित वे साधारण काव्य के समान सुबोध (प्रसन्न) कैसे हो सकती है। (यह प्रकृत पक्ष में अर्थ है।) दूसरे पक्ष में। जिन आदित्य–प्रभाओं के मध्य में त्रिपथगा आकाशगङ्गा बहती है वे मेघों से आच्छादित होने पर कैसे स्वच्छ हो सकती है। इस श्लोक का अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है।

कष्टत्वदोष का उदाहरण होने के कारण वृत्तिकार ने श्लोक का पूरा अर्थ न देकर संक्षेप से काम चलाया है।

11.2.3 सन्दिग्ध दोष

किसी प्ररकरण आदि के विषय में सन्देह उत्पन्न होने पर किसी एक के वाक्तादि के रूप में कथन कर देने पर एक पक्ष में निश्चय हो जाता है। यहाँ संदिग्ध नामक अर्थ दोष होता है।

सन्दिग्ध दोष का उदाहरण–

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्।।

अर्थात् (कार्य–अकार्य के विचार में निपुण) हे आर्यों, आप पक्षपात छोड़कर और विचार करके यह बात प्रमाण सहित बतलाइये कि क्या पहाड़ों के मध्यभागों का (नितम्बों का) सेवन करना चाहिए अथवा कामवासना से मुस्कराती हुई सुन्दरियों के नितम्बों का सेवन करना चाहिए (इस प्रकार का संशय होने पर जो कर्त्तव्य हो सो आप लोग बतलाइये)।

11.2.4 विद्याविरुद्धता (अर्थदोष)

विभिन्न शास्त्र से विरुद्ध कार्य करने पर विद्याविरुद्धता नामक अर्थ दोष होता है। आचार्य ने चार उदाहरणों के द्वारा धर्मशास्त्र के विपरीत, अर्थशास्त्र के विपरीत कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र के विपरीत विद्याविरुद्ध दोष को स्पष्ट किया है।

धर्मशास्त्र के विद्याविरुद्ध का उदाहरण–

सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः।
नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च श्रृणोति च।

अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम्।

अर्थात् वह विद्वान सदा (मध्य) रात्रि में स्नान करके सारे दिन नाना प्रकार के शास्त्रों की व्याख्या करता है, और (दूसरों की नई की गई व्याख्या को अथवा मूल शास्त्र को) सुनता है।

यहाँ ग्रहण (आदि) विशेष कारणों को छोड़कर रात्रि प्रहर में स्नान को धर्मशास्त्र के विरुद्ध माना गया है–

'रात्रौ स्नानं न कुर्वीत राहोरन्यत्र दर्शनात्'।

अर्थशास्त्र के विद्या विरुद्ध का उदाहरण–

अनन्यसदृशं यस्य बलं बाह्वोः समीक्ष्यते।

षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना।।

अर्थात् जिस राजा अथवा पुरुषों के बाहुओं में अतुल बल प्रतीत होता है (या पाया जाता है) उसके लिए (नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध छह गुणों–सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय तथा द्वैधीभाव) षड् गुणों का प्रयोग सचमुच व्यर्थ है।

यह राजनीतिशास्त्र से विपरीत होने से कारण अर्थशास्त्र का विद्याविरुद्ध का उदाहरण है।

कामशास्त्र के विद्याविरुद्ध का उदाहरण–

विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गणमङ्गना।

बभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम्।।

अत्र केयूरपदे नखक्षतं न विहितमिति, एतत्कामशास्त्रेण।

अर्थात् कामदेव की क्रीडाभूमि (के रूप में) स्त्री ने बाजूबन्दों को दूर करके (उनके स्थान पर) पति के द्वारा उत्पादित (बनाए गए) नरवक्षतों की माला को धारण किया।

कामशास्त्र के अनुसार नरवक्षत के स्थान जंगा, वक्षस्थल तथा गाल आदि माने गए हैं–

'नखक्षतस्य स्थानानि कक्षो वक्षस्तथा गलः। पार्श्वौ जघनमूरू च स्तनगण्डललाटिकाः।'

अतः बाजूबन्द का स्थान का विधान कामशास्त्र के अनुसार नखक्षत के लिए नहीं किया गया है, इसलिए कामशास्त्र के विरुद्ध होने से विद्याविरुद्ध है।

योगशास्त्र के विद्याविरुद्ध का उदाहरण–

अष्टाङ्गयोगपरिशीलनकीलनेन दुःसाधसिद्धिसविधं विदधद्विदूरे।

आसादयनभितामधुना विवकेख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः।।

अत्र विवेकख्यातिस्ततः सम्प्रज्ञातसमाधिः, पश्चादसम्प्रज्ञातस्ततो मुक्तिर्न तु विवेकख्यातौ, एदद् योगशास्त्रेण। एवं विद्यान्तरैरपि विरुद्धमुदाहार्यम्।

अर्थात् समाधि ही जिसका धन है, ऐसे योगियों का शिरोमणि यह योगी अष्टाङ्ग योग के परिशीलन तथा अभ्यास (कीलन) से दुष्प्राप्य सिद्धि (अर्थात्–मुक्ति) के समीपवर्ती (असम्प्रज्ञात समाधि) को दूर करके (अर्थात् उसके बिना ही) अभिमत विवेकख्याति (प्रकृति–पुरुष के भेदज्ञान) को प्राप्त करते हुए अब मुक्त हो गया।

योगशास्त्र के अनुसार पहले प्रकृति–पुरुष के भेद के ज्ञानरूप विवेकख्याति, उसके बाद सम्प्रज्ञात समाधि और उसके बाद असम्प्रज्ञात समाधि तथा अंत में मुक्ति होती है। उदाहरण में विवेकख्याति के बाद मोक्ष हो जाने से यह योगशास्त्र के क्रम के विरुद्ध है। इसलिए यहाँ विद्याविरुद्ध दोष है।

11.2.5 अपदयुक्तता

जब अस्थान अथवा अनुचित स्थान पर अनावश्यक पद जोड़ दिया जाए तो वह अपदयुक्तता दोष होता है। उदाहरण रूप में राजशेखरकृत बालरामायण नाटक के प्रथम अङ्क में सीता के वर के रूप में रावण के प्रस्ताव की विवेचना करते हुए जनक के राजपुरोहित शतानन्द जी का उद्धरण प्रस्तुत है–

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं।
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते।
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः।।

अत्र 'स्याच्चेदेप न रावणः' इत्यन्तमेव समाप्यम्।

अर्थात् रावण के दूत से शतानन्द कहते हैं कि रावण की आज्ञा इन्द्र के लिए शिरोधार्य (शिखामणि प्रणयिनी) है। शास्त्र जिसकी नवीन (प्रसिद्ध आँखों से भिन्न) आँखे हैं। भूतपति महादेव में (जिसकी) अपार भक्ति है, और लङ्का इस नाम से विख्यात दिव्य नगरी उसका वासस्थान है। ब्रहमा (द्रुहिण) के वंश में जन्म हुआ है।

इसलिए इस प्रकार का (इतने गुणों से युक्त) दूसरा वर नहीं मिल सकता है, यदि वह (दुराचारी) रावण न होता तो निःसन्देह ऐसा (उत्तम) वर और नहीं मिल सकता है। अथवा सबमें सब गुण कहाँ मिल सकते हैं।

इस श्लोक में 'स्याच्चेदेप न रावणः' कह कर ही समाप्त कर देना चाहिए था परन्तु 'क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः' कह देने पर रावण को सीता के वर के रूप में अनुपयुक्त सिद्ध करने में बाधा उत्पन्न होती है। अतः अपदयुक्तता दोष है।

11.2.6 प्रकाशितविरुद्धता

विरुद्ध अर्थ के प्रकाशित होने पर प्रकाशितविरुद्धता दोष होता है–

उदाहरण–

लग्नं रागावृताङ्गया सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती।
तत्सक्तोऽयं न किंचिद् गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनिचोगाद् गदितुमिव गतेत्यम्बुधि यस्य कीर्तिः।।

अत्र 'विदितुं तेऽस्तु' इत्येतत्कृतम्। प्रत्यय लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकृत्।

इस श्लोक में लक्ष्मी उसको छोड़ रही है, इस विरुद्ध बुद्धि की भी प्रतीति हो रही है। अतः यहाँ प्रकाशित विरुद्धता नामक अर्थदोष है।

11.2.7 अश्लीलता

जब अर्थ में अश्लीलता की प्रतीति होती है तब वहाँ अश्लीलता नामक दोष होता है।

उदाहरण–

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नति।।

अत्र पुण्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः।

अर्थात् दूसरे का नाश करने अर्थात् मारने के लिए उद्धत अभिमानी (खड़े हुए) और दोषों को खोजने वाले इस (दुष्ट व्यक्ति) का जितनी जल्दी पतन होता है उतनी जल्दी पुनः उत्थान नहीं होता।

यहाँ दूसरे अर्थ की जिसमें पुरुष लिङ्ग की भी प्रतीति हो रही है। अतः यह क्रीडाजनक अश्लीलता का उदाहरण है।

यत्रैको दोषः प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति तथापि तेषां तत्राप्रकृतत्वात्प्रकाशनं न कृतम्।

अर्थात् उक्त समस्त उदाहरणों में जहाँ एक ही दोष दिखाया गया है वहाँ अन्य कई दोष भी हो सकते हैं किन्तु प्रसंग न होने से उनको दिखाया नहीं गया है।

दोषों के निरुपण के बाद मम्मट ने अपवाद स्थलों को भी बतलाया है। अर्थात् कई ऐसे दोष होते हैं जो एक स्थान पर तो दोष है परन्तु सभी स्थानों पर वे दोष नहीं रहते अपितु गुण बन जाते हैं। ऐसे दोषों को अनित्य दोष कहा गया है। नित्य एवं अनित्य दोष रसापकर्षत्व के द्वारा निश्चय किये जाते हैं। च्युतसंस्कारादि नित्य दोष सदा रस के अपकर्षक होने के कारण दोष ही माने जाते हैं। श्रुतिकटु आदि दोष श्रृंगार में कोमल रसों के अपकर्षक होने के कारण दोष माने जाते हैं जबकि रौद्र, वीर आदि रसों में ये रस के अपकर्षक नहीं होने के कारण दोष नहीं माने जाते हैं, इसलिए इन्हें अनित्य दोष कहा जाता है।

संभावित प्रश्न

प्रश्न–(1) आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्ध में कितने अर्थदोषों का उल्लेख किया है ।

प्रश्न–(2) अश्लीलता नामक दोष कहाँ होता है।

इकाई–12 रसदोष

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 व्यभिचारीभावों का वाचक शब्द से कथन

12.3 रसशब्द का स्वशब्द से कथन

12.4 स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता

12.5 रसदोषों के अपवाद

12.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के बाद शिक्षार्थी रसदोषों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- रसदोष के अन्तर्गत व्यभिचारिभावों का वाचक शब्द द्वारा कथन किये जाने पर उत्पन्न दोषों को जान सकेंगे। रसशब्द का अपने वाचक शब्द से कहे जाने पर उत्पन्न दोष को जान सकेंगे।
- स्थायिभावों की स्वशब्दवाच्यता से उत्पन्न दोष को जान सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत शिक्षार्थी–व्यभिचारिभावों का स्वशब्दगत कथन, रसशब्द का स्वशब्द से कथन, स्थायीभावों की स्वशब्दवाच्यता आदि का अध्ययन करेंगे। आचार्य मम्मट ने रसदोष के अन्तर्गत 13 दोषों का वर्णन किया है।

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः।।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः।।

अर्थात् (1) व्यभिचारिभावों, (2) रसों अथवा, (3) स्थायिभावों का अपने वाचक शब्द द्वारा कहना अर्थात् स्वशब्दवाच्यता, (4) अनुभाव और, (5) विभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, (6) रस के प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण करना, (7) रस की बार–बार दीप्ति, (8) रस का अनवसर में विस्तार कर देना, (9) अनवसर में विच्छेद कर देना, (10) अप्रधान अङ्ग रस का भी अत्यधिक विस्तार कर देना, (11) अङ्गी प्रधान रस को त्याग देना, भूल जाना, (12) प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय कर देना और (13) अनङ्ग अर्थात् जो प्रकृत रस का उपकारक नहीं है, उसका कथन, इस प्रकार रस में रहने वाले 13 दोष होते हैं।

12.2 व्यभिचारिभावों का वाचक शब्द से कथन

व्यभिचारिभावों का वाचक शब्द से कथन का उदाहरण–

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः।।

अत्र व्रीडादीनाम्।

अर्थात् (दयित) प्रियतम (शिवजी) के मुख के समाने होने पर सलज्ज (उनके ओढ़े हुए) हाथी के चमड़े के (बने हुए वस्त्र को) देखने पर सकरुण, शिवजी के द्वारा आभूषण रूप में धारण किये हुए (सांपों) को देखने पर त्रासयुक्त, अमृत को प्रवाहित करने वाले चन्द्रमा को देखने पर विस्मयरस से युक्त, (शिवजी के मस्तक पर स्थित जहनुकन्या) गङ्गा को देखने पर ईर्ष्याभाव से युक्त, (शिवजी द्वारा धारण किये हुए) कपाल के भीतर देखने पर दीनतायुक्त इस प्रकार नवसङ्गम के लिए उत्सुक पार्वती की दृष्टि तुम्हारे लिए कल्याणकारी हो।

यहाँ व्रीड़ा वाचक व्यभिचारिभावों का अपने वाचक शब्दों द्वारा कथन होने व्यभिचारिभावों की स्वशब्दवाच्यता (अर्थात् अपने ही शब्दों से) दोष है।

व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे।

इत्यादि तु युक्तम्।

'व्यानम्रा दयितानने' इत्यादि पाठ युक्त (हो सकता) है (क्योंकि उसमें व्यभिचारिभावों के वाचक शब्दों को हटाकर उनको अन्य प्रकार से प्रकट किया गया है। 'सव्रीडा' के स्थान 'व्यानम्रा', 'सकरुणा' के स्थान पर 'मुकुलिता', 'सत्रासा' के स्थान पर 'सोत्कम्पा', 'सविस्मयरसा' के स्थान पर 'निमेषरहिता', 'सेर्ष्या' के स्थान पर 'मीलद्भ्रः' और 'दीना' के स्थान पर 'म्लाना' पाठ कर देने से उन व्यभिचारिभावों की स्ववाच्यता नहीं रहती है। अतः दोष का निवारण हो जाता है।

12.3 रसशब्द का स्वशब्द से कथन

'रसस्य स्वशब्देन श्रृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम्। क्रमेणोदाहरणम्' रस की स्वशब्द अर्थात् रस शब्द से अथवा श्रृङ्गारादि शब्द से वाच्यता है। दोनों रस दोष है। क्रमशः उनके उदाहरण इस प्रकार हैं–

1) तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः।।

अर्थात् कामदेव के विजय की मङ्जलक्ष्मी और तनिक ऊपर उठी हुई भुजा की स्थिति में देखी गयी उस नायिका को देखकर इसके नायक के भीतर किसी अनिर्वचनीय और अविच्छिन्न (निरन्तर) रस का हुआ।

इस श्लोक में रस को सामान्यवाचक शब्द अर्थात् स्वशब्द से ही रस का कथन होने से दोष है।

2) आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्तव्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम्।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्त्य विवर्तमानः श्रृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति।।

अर्थात् नायिका के कोमल कपोल तल पर स्थित व्यक्त अनुराग के कारण और भी अधिक सुन्दर उस मनोहर रूपवाली नायिका को देखकर बाल्यावस्था का अतिक्रमण करके नवयौवन में प्रविष्ट होता हुआ यह नायक घृङ्जार रस की सीमा में तरङ्गित हो रहा है। इसको देखो।

12.4 स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता

स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता से उत्पन्न दोष का उदाहरण–

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्।।

अत्रोत्साहस्य।

अर्थात् युद्ध (भूमि) में शस्त्रों के परस्पर टकराने से उत्पन्न शब्दों को सुनकर उस (वीर) में कोई अपूर्व (अनिर्वचनीय) उत्साह उत्पन्न हुआ।

यहाँ वीररस के स्थायिभाव उत्साह को उसी शब्द–उत्साह से ही कहे जाने के कारण स्वशब्दवाच्यता दोष है।

12.5 रसदोषों के अपवाद

कई ऐसे अपवाद हैं जहाँ रस दोष, दोष नहीं माने जाते हैं। निम्नलिखित परिस्थितियों में व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता दोष नहीं है।

न दोषः स्वपदेनोक्तादपि सञ्चारिणः क्वचित्।

उदाहरण–

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे।
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः।।

अर्थात् कहीं सञ्चारिभाव का स्वशब्द से कथन होने पर भी दोष नहीं होता है। जैसे–

प्रथमबार के समागम के अवसर पर (अपने पति शिवजी से) मिलने की उत्सुकता के कारण जल्दी करती हुई (नवोढ़ा वधू की) स्वाभाविक लज्जा के कारण लौटती हुई (पीछे हटती हुई सी) फिर बन्धुजनों की स्त्रियों के तत्कालोचित (तैस्तैः) वचनों से दुबारा (शिवजी के सम्मुख) पहुँचायी गयी (एकान्त स्थल में पहुँचने पर) सामने वर

(श्रेष्ठ या पति शिव) को देखकर भीतिग्रस्त (अतएव) रोमाञ्चित और (इस दशा को देखकर) हँसते हुए शिव के द्वारा चिपटा ली गयी (अलिङ्गित) पार्वती आप सबके लिए कल्याणकारी हों।

इस श्लोक में औत्सुक्य और लज्जा जी व्यभिचारिभाव हैं, उन्हें उसी शब्द अर्थात् स्वशब्द से कहा गया है, परन्तु वाचक शब्द से कहे जाने पर भी यहाँ दोष नहीं है। क्योंकि यदि यहाँ उन्हें स्वशब्द से कहकर उनके 'त्वरा' तथा 'व्यावर्त्तन' रूप अनुभावों द्वारा कहा जाए तो औत्सुक्य एवं लज्जा का ज्ञान नहीं होगा क्योंकि 'त्वरा' और 'व्यावर्त्तन' रूप अनुभाव रोष और भय को भी प्रगट कर सकते हैं किन्तु यहाँ रोष और भय अर्थ विवक्षित नहीं है। औत्सुक्य तथा लज्जा के कारण त्वरा तथा लज्जानिमित्तक व्यावर्त्तन विवक्षित है। यह बात व्यभिचारिभाव का स्वशब्द से कथन किये बिना केवल अनुभाव द्वारा उनका बोध नहीं हो सकता है। इसलिए कवि ने उनका स्वशब्द से कथन किया है।

इस प्रकार व्यभिचारिभाव का जहाँ अनुभावों द्वारा निश्चित रूप से प्रतिपादन करना सम्भव न हो, वहाँ उसका स्वशब्द से कथन करना दोष नहीं होता है। परन्तु स्थायिभाव तथा रस की स्वशब्दवाच्यता सदा ही दोष मानी जाती है, उसका कोई अपवाद नहीं होता है।

संभावित प्रश्न

प्रश्न–(1) मम्मट ने कितने रसदोषों का उल्लेख काव्यप्रकाश में किया है ।

इकाई–13 काव्य के गुण

इकाई की रूप–रेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 गुणों का सामान्य लक्षण

13.3 गुण एवं अलङ्कारों में अन्तर

13.4 गुणों के भेद–लक्षण एवं उदाहरण

13.5 गुणों का शब्दार्थधर्मत्व औपचारिक

13.6 वामनोक्त दश प्रकार के शब्दगुणों का खंडन

13.7 वामनोक्त दश प्रकार के अर्थगुणों का खंडन

13.8 गुणों के व्यञ्जक वर्ण

13.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के बाद गुण का लक्षण जान सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद गुण एवं अलङ्कारों के मध्य अन्तर जान सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद गुणों के भेद तथा उसके लक्षण को जान सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद मम्मट द्वारा वामनोक्त शब्द गुणों तथा अर्थगुणों को खंडन को जान सकेंगे।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद गुणों के व्यञ्जक वर्णों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

काव्य प्रकाश के प्रथम उल्लास में आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्य के लक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृती पुनः क्वापि' में शब्दार्थौ के विशेषण रूप दो पद 'अदोषौ' और 'सगुणौ' दिये गये हैं। इकाई–12 में हमने दोष के विषय में अध्ययन किया। इस इकाई में हम 'सगुणौ' जो विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं कि विवेचना करेंगे। गुण का प्रकरण काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में वर्णित है। गुण को समझने से पूर्व हम गुण और अलंकारों के मध्य अन्तर समझेंगे। गुण और अलंकारों के मध्य भेद को लेकर आचार्यों में दो प्रकार के मत हैं। कुछ ने भेद को मिथ्याकल्पना माना हैं तो कुछ आचार्यों ने गुण और अलंकारों के मध्य भेद को स्वीकार किया है। सर्वप्रथम हम गुणों का सामान्य लक्षण जानेंगे।

13.2 गुणों का सामान्य लक्षण

सप्तम उल्लास में दोषों का वर्णन करने के बाद आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में काव्य के गुणों का वर्णन करते हैं। आचार्य मम्मट ने गुणों को शोभाजनक नहीं अपितु उत्कर्ष का हेतु माना है। गुण एवं अलङ्कारों के मध्य अन्तर को समझने के लिए गुण एवं अलङ्कारों का स्वरूप समझना आवश्यक है।

एवं दोषानुक्त्वा गुणालंकार विवेकमाह–

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।

इस प्रकार (सप्तम उल्लास में) दोषों का वर्णन करने के बाद (इस अष्टम उल्लास में सबसे पहले) गुण तथा अलंकार का भेद बतलाते हैं–

आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान (काव्य के आत्मभूत) प्रधान रस के जो अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं, वे गुण कहलाते हैं।

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य, तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात् 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारात्, अन्यत्राशूरेऽपि विततताकृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेः अमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि, मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि रसपर्यन्तविश्रान्तप्रतीतिवन्ध्या व्यवहरन्ति। अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः। अथैषां व्यञ्जकत्वं तथोदाहरिष्यते।

अर्थात् जैसे शौर्य आदि (धर्म) आत्मा के ही होते हैं शरीर के नहीं, इसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म होते हैं, वर्णों के नहीं। कहीं कहीं शौर्य आदि (आत्मगुणों) के योग्य शरीर की लम्बाई–चौड़ाई को देखकर 'इसका आकार ही शूरवीर है' इस प्रकार का व्यवहार होने से और दूसरी जगह अशूर (काया) में भी केवल लम्बी–चौड़ी आकृति को देखकर 'शूर' है यह, तथा कहीं शूर में भी केवल शरीर के छोटे होने के कारण भ्रान्त लोग जैसे व्यवहार करने लगते हैं, इसी प्रकार (1) मधुर आदि (गुणों के व्यञ्जक सुकुमार आदि वर्णों में मुधर आदि व्यवहार होने से) (2) अमधुर आदि रस के अङ्गभूत वर्णों की सुकुमारता आदि मात्र से माधुर्य आदि का तथा (3) मधुर आदि रसों के अङ्गभूत उन वर्णों के असुकुमार अर्थात् कठोर होने से रस की मर्यादा को न समझने वाले भ्रान्त व्यक्ति उनके अमाधुर्य आदि का व्यवहार करते हैं। इसलिए यह समझना चाहिए कि माधुर्य आदि गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं वे माधुर्य आदि योग्य वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं, केवल वर्णों पर आश्रित रहने वाले नहीं है। माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक वर्णों का उदाहरण आचार्य आगे देते हैं।

उपरोक्त कारिका एवं वृत्ति के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि गुण के लक्षण में रसोत्कर्षत्व तथा रसनिष्ठत्व ये दो धर्म हैं। इसलिए गुण के लक्षण में ये दोनो हैं–(1) 'रसोत्कर्षकत्वे सति रसाव्यभिचारित्वम्' और (2) 'अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वं गुणत्वम्'। अर्थात् रस को बढ़ाना या रस का उत्कर्ष करना तथा रस में रहना। अलंकार में ये दोनों तत्व नहीं पाए जाते हैं। रस के अभाव में भी शब्दालङ्कारों की स्थिति होने से इनमें

रसाव्यभिचारित्व नहीं है और न वे अव्यभिचारेण रसोपकारक ही होते हैं। अलंकारों में गुणों के इन दोनों लक्षणों की अतिव्याप्ति नहीं होती है। इसलिए अलंकारों का लक्षण बताते हुए सिद्ध करते हैं कि अलंकारों में इन गुणों के धर्मों का अभाव होता है।

13.3 अलङ्कारों का सामान्य लक्षण

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।

अर्थात् और जो (काव्य में) विद्यमान उस (अङ्गी रस) को शब्द तथा अर्थरूप अङ्गों के द्वारा (नियम से अथवा सर्वथा नहीं अपितु) कभी–कभी उपकृत (अर्थात् बढ़ाता है या उत्कर्षयुक्त) करते हैं। वे अनुप्रास और उपमा आदि (शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार शरीर के शोभाधान द्वारा परम्परा या शरीरी आत्मा के उत्कर्षजनक) हार आदि (दैहिक अलङ्कारों) के समान (काव्य) के अलङ्कार होते हैं।

आचार्यों ने अलंकारों को शरीर का धर्म तथा गुणों की आत्मा का धर्म माना जाता है। कुछ आचार्यों ने काव्य के सौन्दर्य को ही अलङ्कार माना है तो कुछ अन्य आचार्यों ने काव्य जिस तत्त्व से अलङ्कृत होता है, उस तत्त्व को अलङ्कार माना है।

13.4 गुण एवं अलङ्कारों के मध्य अन्तर

ध्वनिवादी आचार्यों से पूर्व वामन का विवेचन सबसे अधिक सुसम्बद्ध एवं तर्कसंगत है। ध्वनिवादी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में गुणों का निरुपण करते हुए प्राचीन आचार्यों में वामन के मत को ही अधिक महत्त्व दिया है। गुणों का स्वरूप विवेचन करते हुए वामन ने गुणों और अलङ्कारों के भेद को भी बताया। वामन के अनुसार गुण काव्य के अन्तरङ्ग हैं और अलङ्कार बाह्य अङ्ग हैं–

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः। ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते च ओजः प्रसादादयः। न यमकोपमादयः। केवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजः प्रसादानीनान्तुकेवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारः। तस्याः काव्यशोभायाः अतिशयस्तदतिशयः, तस्य हेतवः। तु शब्दो व्यतिरेक। अलङ्काराश्च यमकोपमादयः।'

अर्थात् काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म गुण हैं तथा उस शोभा के अतिशय को करने वाले धर्म अलङ्कार हैं। ओज, प्रसाद आदि गुण काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म हैं। यमक, उपमा आदि अलङ्कार स्वयं काव्य में शोभा को उत्पन्न नहीं करते, परन्तु वे उस शोभा के अतिशय को प्रतिपादित करते हैं।

आचार्य मम्मट ने भी गुण के स्वरूप को बताते हुए काव्य में इसके स्थान को निर्धारित किया है। मम्मट के अनुसार काव्य में रस अङ्गीरूप में रहते हैं तथा गुण उन रसों में नियत रूप से रहते हुए उनका उपकार करते हैं। काव्य अङ्गीभूत रस में गुण उसी प्रकार से रहते हैं, जिस प्रकार शरीर के अङ्गी आत्मा में शौर्य आदि गुण रहते हैं। इसे ही मम्मट ने अष्टम उल्लास के प्रारंभ में बताया है। गुणों तथा अलङ्कारों के इस स्वरूप विवेचन से तथा उनके स्थान को निर्धारित करने से उनके परस्पर भेद का भी स्पष्टीकरण होता है। इन दोनों में निम्न भेद हैं–

(1) गुण काव्य के आत्मभूत रस के धर्म हैं, परन्तु अलङ्कार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ का उपकार करते हैं।

(2) गुण रस का साक्षात् रूप से अर्थात् सीधे उपकार करते हैं परन्तु अलङ्कार शब्द और अर्थ के माध्यम से रस का उपकार करते हैं।

(3) गुणों की स्थिति रस के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहती है। रस के होने पर गुण भी अवश्य होते हैं और रस के न होने पर वे नहीं होते। वे रस के नियम धर्म हैं। परन्तु अलङ्कारों की स्थिति ऐसी नहीं है। रस के न होने पर अलङ्कार हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं।

(4) गुण विद्यमान रस का नियत रूप से उपकार करते हैं, परन्तु अलङ्कार रस के होने पर उसका उपकार कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं।

(5) गुण रसनिष्ठ होते हैं जबकि अलङ्कार शब्दार्थनिष्ठ होते हैं।

13.4 गुणों के भेद–लक्षण एवं उदाहरण

गुणों की संख्या अथवा भेद के सन्दर्भ में प्राचीन आचार्यों के मत अलग–अलग हैं। आचार्य भरत ने दस, भामह ने तीन, दण्डी ने दस, 'अग्निपुराण' ने उन्नीस, वामन ने बीस, कुन्तक ने छः और भोज ने चौबीस गुण माने हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों की संख्या नियत करते हुए मात्र तीन गुण ही मानें।

मम्मट से पूर्व वामन का मत ही अधिक प्रचलित था। वामन ने दस शब्द गुण तथा दस अर्थगुण प्रतिपादित किये थे। मम्मट ने वामन द्वारा प्रतिपादित दस शब्द गुणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन गुणों में माना तथा वामन द्वारा प्रतिपादित दस अर्थगुणों को गुण ही नहीं माना। शब्दगुणों की विस्तृत व्याख्या करते हुए मम्मट ने इनमे से कुछ गुणों का अन्तर्भाव इन तीन गुण में स्वीकार किया है और कुछ गुणों को दोष का अभाव मात्र माना है और कुछ को तो दोषरूप ही माना है।

इदानीं गुणानां भेदमाह–

(अब आगे) क्रम से (तीन गुणों) के लक्षण कहते हैं।

13.4.1 माधुर्य गुण–

माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।

अर्थात् गुणों के भेद को बताते हुए कहते हैं कि वे (गुण) (1) माधुर्य (2) ओज (3) प्रसाद (नामक) तीन ही गुण होते हैं (वामन के अभिप्रेत) दस नहीं होते हैं।

आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृङ्गारे द्रुतिकारणम्।। श्रृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे। द्रुतिर्गलितत्वमिव। श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि।

अर्थात् (चित्त के) द्रवीभाव का कारण और श्रृङ्गार में रहने वाला जो आह्लादस्वरूपत्व है, वह माधुर्य (नामक गुण कहलाता) है। श्रृङ्गार में अर्थात् सम्भोग (श्रृङ्गार) में। द्रुति अर्थात् (चित्त) विगलितत्वसा द्रवीभाव।

यहाँ आह्लादकत्व का अर्थ आह्लादजनकत्व नहीं अपितु आह्लादस्वरूपत्व है, क्योंकि श्रृङ्गार आदि रस आह्लादजनक नहीं अपितु आह्लादस्वरूप होते हैं। यहाँ श्रृङ्गार में जो आह्लादकत्व है वह माधुर्यगुण कहलाता

है, यह बताया है। माधुर्यगुण आह्लादरूप है और यह सहृदय के हृदय के द्रवीभूत होने (द्रुति का) कारण होता है। यह माधुर्य सम्भोग श्रृङ्गार, करुण में, विप्रलम्भ श्रृङ्गार में और शान्त रस में विद्यमान रहता है।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।

अर्थात् यह माधुर्य गुण सामान्यतः सम्भोगश्रृङ्गार में रहता है परन्तु करुण विप्रलम्भ श्रृङ्गार तथा शान्त रस में वह उत्तरोत्तर अधिक चमत्कारजनक (अतिशयान्वित) होता है।

13.4.2 ओज गुण

दीप्तत्वमविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।।

चितस्य विस्ताररूपदीप्रत्वजनकमोजः।

अर्थात् चित्त के द्रवीभाव का कारणभूत आह्लादकत्व जिस प्रकार माधुर्यगुण कहलाता है, उसी प्रकार वीररस में रहने वाली (आत्मा अर्थात्) चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति ओज कहलाती है।

चित्त के विस्ताररूप दीप्रत्व का जनक ओज (गुण कहलाता) है।

वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।

अर्थात् यह ओज सामान्यतः वीररस में रहता है परन्तु वीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः इसका आधिक्य विशेष चमत्कारजनकत्व रहता है।

वीराद्वीभत्से ततो रौद्रे सातिशयमोजः।

अर्थात् वीर रस की अपेक्षा वीभत्स में और उससे भी अधिक रौद्र रस में ओज का चमत्कारातिशय रहता है।

13.4.3 प्रसाद गुण

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादौऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।।

अन्यदिति व्याप्यमिह चिन्तम्। सर्वत्रेति सर्वेषु, रसेषु सर्वासु रचनासु च।

अर्थात् सूखे ईंधन में अग्नि के समान अथवा स्वच्छ (धुले हुए वस्त्र में) जल के समान जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाता है, वह सर्वत्र (सब रसों में) रहनेवाला प्रसाद (गुण कहलाता) है।

यहाँ 'अन्यत्' पद का अर्थ व्याप्य चित्त तथा 'सर्वत्र' पद का अर्थ सब रसों और सब रचनाओं में करना चाहिए।

इस उदाहरण के द्वारा ग्रन्थकार बताते हैं कि जैसे सूखे ईंधन अग्नि सहसा ही (जल्दी से) अपने घेरे में ले लेती है या धुले हुए वस्त्रों को जल सरलता से भिगो देता है या वस्त्रों में जल भर जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रसाद गुण चित्त में अनायास ही व्याप्त हो जाता है और वह सभी रसों और रचनाओं में रहता है। यहाँ अग्नि और जल का उदाहरण देने का अभिप्राय यह है कि जब वीर और रौद्र के समान उग्र रसों में प्रसाद गुण होता है तो

वह सूखे ईंधन में अग्नि के समान चित्त में व्याप्त होता है और जब श्रृङ्गार, करुण आदि कोमल रसों में होता है तब स्वच्छ वस्त्र में जल के समान चित्त में व्याप्त होता है।

13.5 गुणों का शब्दार्थधर्मत्व औपचारिक

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।

गुणवृत्त्या उपचारेण। तेषां गुणानाम्। आकारे शौर्यस्येव।

अर्थात् यद्यपि मुख्यरूप से गुण रस के धर्म हैं परन्तु गौणी वृत्ति से शब्द और अर्थ में भी उनकी स्थिति मानी गई है।

गुणवृत्ति अर्थात् उपचार से उनकी अर्थात् गुणों की। जैसे शरीर (आकार) में आत्मा के धर्म शौर्य आदि गुणों की स्थिति उपचार से मानी जाती है, उसी प्रकार उपचार से रस के धर्म माधुर्य आदि गुणों की शब्द और अर्थ में भी स्थिति मानी जाती है।

13.6 वामनोक्त शब्दगुणों का खण्डन

वामन ने जिन दस शब्दगुणों का प्रतिपादन किया है, उनकी विस्तृत व्याख्या करते हुए मम्मट ने कुछ गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों–माधुर्य, ओज और प्रसाद में कर दिया है तथा कुछ को दोष का अभाव मात्र स्वीकार किया और कुछ को दोष रूप ही स्वीकार किया है। इस प्रकार मम्मट ने तीन ही गुण स्वीकार किये हैं–

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।

अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।।

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः, यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः, तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम्। प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। तथा हि 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः' इत्यादौसिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः। कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात् तन्निराकरणेन अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।

अर्थात् अनेक पदों की एक पद के समान प्रतीतिरूप जो (1) श्लेष और उतराव–चढ़ाव (आरोह–अवरोह) का क्रमरूप जो (2) समाधि और विकटत्वरूप (3) उदारता तथा ओज मिश्रित शैथिल्यरूप जो (4) प्रसाद (रूप चार शब्दगुण हैं) उनका (5) ओज (नामक वामन तथा मम्मट दोनों के सम्मत गुण में अन्तर्भाव होता है)। पृथक्पदत्वरूप (6) माधुर्य (गुण) को मम्मट ने भी प्रकारान्तर से साक्षात् स्वीकार कर लिया है। (7) अर्थव्यक्ति प्रसाद (गुण) के द्वारा आ ही गयी है। (8) मार्गाभेदस्वरूपिणी समता कहीं दोष हो जाती है। जैसे 'मातङ्गा किमु वल्गितैः'। उदाहरण में सिंह का वर्णन के तृतीय चरण में कोमल मार्ग का परित्याग गुण हो गया है, (यदि उसका त्याग न करके 'मार्गाभेद' रखा जाता तो वह यहाँ दोष हो जाता है, इसलिए समता को गुण नहीं माना जा सकता है)। कष्टत्व तथा ग्राम्यत्व दोष कहे जाने से उनके परित्याग द्वारा (क्रमशः) अपारुष्यरूप (9) सौकुमार्य तथा

औज्ज्वल्यरूप (10) कान्ति (गुण भी दोष अभावरूप से) स्वीकृत कर लिये गय हैं। इसलिए दस शब्द गुणों को मानना उचित नहीं है।

13.7 वामनोक्त दस अर्थगुणों का खण्डन

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।

प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च।।

अर्थात् (1) पद के प्रतिपाद्य अर्थ (के बोधन) में वाक्य की रचना (2) वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ में पद का कथन करना, (3) विस्तार या (4) संक्षेप करना (5) अर्थ का। (विशेषरूप से) साभिप्रायत्व (यह पाँच प्रकार की) प्रौढ़ि होती है।

इति या प्रौढिः ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः। तद्भावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः। अपुष्टार्थत्वाधिक पदत्वानवीकृतत्वामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यम् अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम् अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृतानि। अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्गयाभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः, दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृते। क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोग्रूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम्। अवैषम्यस्वरूपा समता दोषाभावमात्रं न पुनर्गुणः। कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिद्ध्यात्। अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् कथं काव्यम् इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः।

अर्थात् (1) इस प्रकार जो प्रौढि ओज कही गयी है, वह केवल विचित्रता मात्र है, गुण नहीं क्योंकि उसके बिना भी काव्यव्यवहार हो सकता है। अपुष्टार्थव्य, अधिपदत्व, अनवीकृतत्व, अमङ्गलरूप अश्लील और ग्राम्यत्व के निराकरण द्वारा साभिप्रायत्वरूप (1) ओज (अर्थात् ओज गुण का दूसरा स्वरूप), अर्थ वैमल्यरूप (2) प्रसाद, उक्तिवैचित्र्यरूप (3) माधुर्य, अपारुष्यरूप (4) सौकुमार्य और अग्राम्यत्वरूप (5) उदारता (गुण, दोषाभाव के अन्तर्गत) स्वीकृत हुए हैं। स्वभावोक्ति अलङ्कार से और रसध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्गच के द्वारा वस्तु के स्वभाव की स्पष्टतारूप (6) अर्थव्यक्ति तथा दीप्तरसत्वरूप (7) कान्ति स्वीकृत हो गयी। क्रम–कौटिल्य–अनुल्बणत्वउपपत्तियोगरूप रचनास्वरूप (8) श्लेष भी विचित्रता मात्र है। अवैषम्यरूप (9) समता का अभाव दोष होगा, इसलिए समता दोषाभाव मात्र है, गुण नहीं। क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अन्य प्रकरण में अन्य की चर्चा करे। यदि अथोनि अथवा अन्यच्छायायोनि अर्थ का दर्शन न हो, तो काव्य कैसे बनेगा (10) इसलिए अर्थदृष्टि रूप समाधि भी गुण नहीं है।

वामन ने समाधि गुण का लक्षण 'अर्थदृष्टिः समाधिः' किया है तथा अर्थ के दो भेद हुए–(1) अयोनि अर्थात् अकारण अर्थात् कवि की कल्पना से उद्भूत होने वाला अर्थ तथा दूसरा अन्यच्छाया को लेकर वर्णित अर्थ स्वीकार किया है। इस दोनों अर्थदर्शन को वामन ने समाधि नामक गुण माना जाता है। किन्तु आचार्य मम्मट ने स्पष्ट किया है कि इन दो प्रकार के अर्थ के बिना तो काव्य की रचना ही नहीं की जा सकती है। इसलिए यह काव्य के कारणों में आ सकता है परन्तु काव्य का गुण नहीं माना जा सकता है।

वामन के द्वारा प्रतिपादित शब्दगुणों एवं अर्थगुणों के मात्र तीन माधुर्य, ओज, प्रसाद के अन्तर्भाव, दोष का अभाव तथा दोषरूप में होने को निम्न सारणी द्वारा सरलता से समक्ष सकते हैं–

गुणों के नाम	गुणों के लक्षण	अन्तर्भाव
(क) शब्दगुण		
(1) श्लेषबहूनामापि	पदानामेकपदवद्भासमानात्मा (अनेक पदों का एक पद के समान प्रतीत होना)	ओज में
(2) समाधि	आरोहावरोह क्रमरूपः (वाक्य में आरोह तथा अवरोह के क्रम को बनाये रखना)	ओज में
(3) उदारता	विकटत्वलक्षणा (पदों की विकटता)	ओज में
(4) प्रसाद	ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा (ओज से मिश्रित शिथिलतारूप)	ओज में
(5) ओज	बन्धवैकट्यम् (रचना में विकट पदों को बांधना)	ओज में
(6) माधुर्य	पृथक्पदत्वरूपम् (पदों को पृथक–पृथक रखना अर्थात् समास का अभाव)	माधुर्य में
(7) अर्थव्यक्ति	झटिति अर्थज्ञानम् (तुरन्त अर्थ का बोध होना)	प्रसाद में
(8) समता	मार्गाभेदरूपा (वैदर्भी आदि रीतियों से कहीं भेद न करना)	कहीं दोष है
(9) सुकुमारता	कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्निशकरणात् तन्निराकरणेन अपरारुष्यरूपम् (कष्टत्व और ग्राम्यत्व दोषों की बतलाने के कारण उनका निराकरण करके पारुष्य को दूर रखना)	दोष का अभाव मात्र
(10) कान्ति	औज्ज्वल्यरूपा (उज्ज्वलता का रूप होना)	दोष का अभाव मात्र
(ख) अर्थगुण		
(1) ओज–ओज पांच प्रकार का है–		
	(1) पदार्थे वाक्यरचनम् (पद के लिए वाक्य की रचना करना)	विचित्रता मात्र
	(2) वाक्यार्थे च पदाभिधा (वाक्य के लिए पद की रचना करना)	
	(3) व्यास (संक्षिप्त को विस्तार से कहना)	
	(4) समास (विस्तृत को संक्षेप से कहना)	
	(5) साभिप्रायत्वम (अभिप्राय से गर्भित वचनों को कहना)	अपुष्टार्थ दोष का अभाव मात्र
(2) प्रसाद	अर्थवैमल्यात्मा (अधिकपदत्व का निराकरण करके अर्थ की निर्मलता)	अधिकपदत्व दोष का अभाव मात्र
(3) माधुर्य	उक्तिवैचित्र्यरूपम् (उक्ति की विचित्रता मात्र)	अनवीकृतव्य दोष का अभाव मात्र
(4) सौकुमार्य	अपारुष्यरूपम् (कठोरता का न होना)	अमङ्गल रूप दोष का अभाव मात्र
(5) उदारता	अग्राम्यत्वरूपा (ग्राम्यत्व दोष का न होना)	अश्लील दोष का अभाव मात्र
(6) अर्थव्यक्ति	वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा (स्वभावोक्ति अलङ्कार के द्वारा वस्तु के स्वभाव का विशद वर्णन)	स्वभावोक्ति अलङ्कार में

(7) कान्ति दीपसत्वरूपा (रसध्वनि और गुणीभूतव्यङ्गय में रस का
प्रतीयमान होना) रसध्वनि और गुणीभूतव्यङ्गय में

(8) श्लेष क्रमकौटिल्यानुल्वणोपपत्तियोगरूपघटनात्मा (क्रम के उल्लंघन
की अस्फुटता को युक्ति पूर्वक मिला देना) विचित्रता मात्र

(9) समता अवैषम्यरूपा (विषमता का न होना) विषमता रूप दोष का अभाव मात्र

(10) समाधि अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा इति द्विविधः अर्थदृष्टिरूपः
(अर्थ का दर्शन रूप, जो कि दो प्रकार का है)–

1. जो कवि की प्रतिभा से स्वयं उद्भूत हो, प्राचीन कवि द्वारा न कहा गया हो।

2. प्राचीन कवियों के भावों को अन्य प्रकार से नये ढंग से कहना) अर्थदर्शनमात्र

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट होगा कि मम्मट ने किस प्रकार वामन के शब्ददोषों तथा अर्थदोषों का खंडन करते हुए उनका अन्तर्भाव मात्र तीन गुणों में कर लिया है।

तेन नार्थगुणा वाच्याः प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये।

वाच्या वक्तव्याः।

अर्थात् इसलिए (वामन द्वारा बताए) जो (दस) अर्थगुण और शब्दगुण कहे गये हैं उनको (अलग) नहीं मानना चाहिए।

वाच्याः का अर्थ यहाँ वक्तव्याः करना चाहिए।

13.8 गुणों के व्यञ्जक वर्ण

तीन गुणों की स्थापना के बाद मम्मट गुणों के व्यञ्जक वर्णों, समाज आदि को बताते हैं कि किस गुण का कौन–सा वर्ण व्यञ्जक होता है।

वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः।

के कस्य इत्याह–

अर्थात् वर्ण, समास तथा रचना उन (तीनों गुणों) के व्यञ्जक होते हैं–

कौन सा वर्ण किस गुण का व्यञ्जक होता है, यह बताते हैं–

13.8.1 माधुर्य के व्यञ्जक वर्ण

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।

अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।

अर्थात् अपने शिरपर स्थित अपने–अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त, टवर्ग को छोड़कर शेष स्पर्शवर्ण (क से लेकर म पर्यन्त सारे वर्ण स्पर्श कहलाते हैं) हस्व रकार तथा णकार और (आवृत्ति) समासरहित अथवा स्वल्प समासवाली (मध्यवृत्ति) रचना माधुर्य में व्यञ्जक होती है।

टठडढवर्जिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः तथा रेफणकारौ ह्रस्वान्तरिताविति वर्णाः, समासाभावो मध्यमः समासो वेति समासः तथा माधुर्यवती पदान्तरयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका। उदाहरणम्–

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि।।

अर्थात् अटवर्ग, अर्थात् ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर (स्पर्शाः अर्थात्) क से लेकर म पर्यन्त (क वर्ग, च वर्ग, त वर्ग तथा प वर्ग इन चारों वर्गों के समस्त अक्षर) शिर पर अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त और ह्रस्व से व्यवहित रेफ तथा णकार ये (1) वर्ण, समास का अभाव (समासरहित अथवा मध्यम–समास) (स्वल्प समास) यह (2) समास तथा अन्य पदो ंके साथ योग (अर्थात् सन्धि से) माधुर्ययुक्त (3) रचना (ये तीनों) माधुर्य (नामक गुण) के व्यञ्जक होते हैं। जैसे–

(स्तनों के भार से) ईषत् नताङ्गी उस (नायिका) के, कामदेव की रङ्गशाला के समान उस अलौकिक शरीर को हावभावमयी चेष्टाओं ने इस प्रकार अपने अधीन कर लिया है, जिससे ये (भंगियाँ) युवकों के चित्ततों को सहसा ही अन्य विषयों की चिन्ता से रहित (केवल उसी के चिन्तन में तत्पर) कर देती हैं।

यहाँ गकार तथा तकार अपने वर्ण के अन्तिम वर्ण से युक्त हैं। अनङ्ग, तदङ्ग, भङ्गीभिः अङ्गीकृतम् आदि में गकार तथा स्वान्त, शान्त, चिन्तन आदि पदों में तकार अपने–अपने वर्गों के अन्तिम से युक्त है, और रङ्ग आदि पदों में ह्रस्व से व्यवहित रेफ है। ये सब वर्ण माधुर्य व्यञ्जक हैं। अनङ्गरङ्गप्रतिम यह मध्यमवृत्ति अर्थात् स्वल्प–समासवाली रचना भी माधुर्य की व्यञ्जक है। इस प्रकार ये तीनों विप्रलम्भश्रृङ्गार में माधुर्य के व्यञ्जक हैं।

13.8.2 ओज के व्यञ्जक वर्ण

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्ध्य गुम्फ उद्धत ओजसि।।

अर्थात् क वर्ग, च वर्ग, त वर्ग तथा प वर्ग चारों वर्गों के आदि अर्थात् प्रथम (क–च–त–प आदि) और तृतीय (ग–ज–द–ब आदि) वर्णों के साथ उनके बाद के (अन्त्योः अर्थात् ख–छ–थ–फ आदि द्वितीय तथा तृतीय के बाद के चतुर्थ घ–झ–घ–भ) वर्णों का निरन्तर या व्यवधानरहित तथा रेफ के साथ योग (अर्थात् ऊपर या नीचे किसी भी रूप में रकार का) (किसी वर्ण के साथ योग जैसे–वज्र, वक्त्र, निछादि आदि में) टादि (ट–ठ–ड–ढ़ वर्ण) तथा श–ष (ये सब वर्ण तथा) दोधी समास एवं उद्धत रचना (गुम्फ) ओज (गुण) में व्यञ्जक होते हैं।

वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ उनके बाद के अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का, ऊपर–नीचे लगे हुए रकार (रेफ) के साथ जिस किसी वर्ण का, दो तुल्य वर्णों का अर्थात् (वित्त, उद्दाय–त्त/द्द) अर्थात् दो समान वर्णों का योग, वर्ग अर्थात् णकार को छोड़कर (ट–ठ–ड–ढ का प्रयोग), शकार तथा षकार का प्रयोग, दीर्घ समास और विकट रचना ओज गुण के व्यञ्जक होते हैं।

13.8.3 प्रसाद गुण के व्यञ्जक वर्ण

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।।
समग्राणां रसानां सङ्घटनानां च।

उदाहरणम्–

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्या सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्।।

अर्थात् जिस शब्द, समास या रचना के द्वारा श्रवणमात्र से शब्द के अर्थ की प्रतीति हो जाए, वह सब वर्णों, समासों तथा रचनाओं में रहनेवाला प्रसादगुण माना जाता है।

(समग्राणां) अर्थात् समस्त रसों तथा रचनाओं का साधारण धर्म प्रसादगुण होता है। उदाहरण–

ऊँचे स्तनों और नितम्बों के सम्पर्क से दोनों ओर मुरझाये हुये और शरीर के मध्य भाग (कमर के कृश होने से उस) के मिलन को प्राप्त न होने के कारण बीच में हरी और शिथिल भुजाओं के (इधर–उधर) पटकने तथा करवटें बदलने से जिसकी बनावट बदल गई है। इस प्रकार की कमलिनी के पत्तों की यह शय्या कृशांगी के विरहजन्य सन्ताप को बता रही है।

गुणानुसारिणी रचना के अपवाद

वामन ने गुणों के साथ–साथ रीतियों का भी प्रतिपादन किया है और वे रीति को ही काव्य का आत्मा मानते हैं। वामन की 'रीति' के लिए दण्डी तथा कुन्तक ने 'मार्ग' शब्द का तथा आनन्दवर्धन ने 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया है। ध्वन्यालोक में रीति अथवा संङ्घटना को गुण से भिन्न या अभिन्न मानने वालों के तीन सिद्धान्तों का वर्णन है। एक पक्ष गुण तथा सङ्घटना अथवा रीति से अभेद मानता है, दूसरा पक्ष उन दोनों का भेद मानता है। इस भेदवादी सिद्धान्त में भी दो विकल्प हैं–एक पक्ष सङ्घटना को गुणों का आश्रित मानता है तो दूसरा पक्ष गुणों की संङ्घटना के आश्रित नहीं माना है अपितु रस के आश्रित माना है। इसलिए वे संघटना या रीति को गुणों के आश्रित मानते हैं। गुणों के अतिरिक्त वक्ता, वाच्य आदि का औचित्य भी सङ्घटना या वे रीति का नियामक हो सकता है।

वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते।।

अर्थात् कहीं–कहीं वक्ता, वाच्य (विषय) तथा प्रबन्ध के औचित्य से रचना, समास तथा वर्णों का अन्य प्रकार का प्रयोग भी उचित माना जाता है।

क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचनाद्यः।

अर्थात् कहीं वाच्य तथा प्रबन्ध की (भी) उपेक्षा करके वक्ता के औचित्य से ही रचना आदि होती है।

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः।

अर्थात् कहीं वक्ता तथा प्रबन्ध (दोनों) की उपेक्षा करके (केवल) वाच्य के औचित्य से ही रचना आदि होती है।

क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षाः प्रबन्धोचिता एव ते। तथा हि आख्यायिकायां श्रृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः, कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः, नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः।

अर्थात् कहीं–कहीं वक्ता और वाच्य की उपेक्षा करके प्रबन्ध के औचित्य के अनुसार (रचना आदि) की जाती है। जैसे कि आरण्यायिका में श्रृङ्गार रस के वर्णन में भी अत्यन्त उद्धत वर्णरचनादि प्रयुक्त नहीं होते हैं और नाटकादि में रौद्ररस में भी दीर्घ समास आदि प्रयुक्त नहीं होते हैं।

इसी प्रकार अन्य औचित्यों का भी अनुसरण करना चाहिए।

संभावित प्रश्न

प्रश्न–(1) गुणों का सामान्य लक्षण बताइये।

प्रश्न–(2) गुणों के भेद बताइये।

प्रश्न–(3) गुण एवं अलङ्कारों के मध्य अन्तर स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न–(4) वामन के दस शब्द गुणों को बताइए।

प्रश्न–(5) वामनोक्त दस अर्थगुणों का मम्मट द्वारा किये गये खण्डन को समझाइए।

•

Note

Note